

जाति प्रश्न और मार्क्सवाद

अरविन्द स्मृति न्यास द्वारा प्रकाशित की गयी पुस्तक से
लिये गये तीन महत्वपूर्ण आलेख

इस पुस्तक में चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी (12-16
मार्च 2013, चण्डीगढ़) के दौरान प्रस्तुत किये गये सभी
आलेख संकलित थे

1. जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी
दृष्टिकोण

शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान

पेज - 2

2. जाति व्यवस्था-सम्बन्धी इतिहास-लेखन : कुछ
आलोचनात्मक प्रेक्षण

अभिनव सिन्हा

पेज - 90

3. जाति, वर्ग और अस्मितावादी राजनीति
शिवानी

पेज - 129

जाति प्रश्न और उसका समाधान : एक मार्क्सवादी दृष्टिकोण

शोध टीम, अरविन्द मार्क्सवादी अध्ययन संस्थान

भारतीय समाज को शोषणमुक्त बनाने की कोई भी क्रान्तिकारी परियोजना जाति प्रश्न को छोड़कर नहीं बनायी जा सकती। इस धारणा को सिरे से खारिज करने के पर्याप्त आधार हैं कि पहले सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर कुछ सुनिश्चित सचेतन प्रयासों से जाति-व्यवस्था को समाप्त किया जाना चाहिए, इसके बाद ही जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी सम्भव हो सकती है। इसके विपरीत, यह धारणा भी उतनी ही ग़लत है कि वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और सर्वहारा क्रान्ति की प्रक्रिया जाति-व्यवस्था को स्वतः समाप्त कर देगी, अतः यह प्रश्न अलग से कोई अहम मुद्दा बनता ही नहीं है। हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया जाति-आधारित उत्पीड़न के विविध रूपों और उनकी कारक-वाहक संस्थाओं को स्पष्ट निशाना बनाये बिना आगे बढ़ ही नहीं सकती, इसके बिना जातियों में बैँटी हुई और सामाजिक पार्थक्य की शिकार व्यापक मेहनतकश जनता के विभिन्न वर्गों की चेतना का क्रान्तिकारीकरण और लामबन्दी सम्भव नहीं। साथ ही, क्रान्ति के हरावलों को जाति-उन्मूलन की एक ऐतिहासिक-वैज्ञानिक, तर्कसंगत परियोजना प्रस्तुत करनी होगी, जो भले ही दीर्घकालिक (स्वाभाविक है कि ऐसी ही होगी) हो, पर जिसके कुछ ठोस तात्कालिक कार्यभार भी हों। हाँ, इतना तय है कि जाति-व्यवस्था के अन्तिम तौर पर, समूल नाश के लिए, सर्वहारा राज्य की स्थापना के बाद भी, उत्पादन-सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण और समाजवादी सामाजिक-राजनीतिक-शैक्षिक-सांस्कृतिक ढाँचे के क्रमशः उन्नततर होते जाने की सुदीर्घ प्रक्रिया के साथ-साथ विचार और संस्कृति के धरातल पर भी सतत

‘जाति प्रश्न और मार्क्सवाद’ विषय पर चतुर्थ अरविन्द स्मृति संगोष्ठी
(12-16 मार्च, चण्डीगढ़) में प्रस्तुत आधार आलेख

क्रान्ति की प्रक्रिया चलानी होगी। इस आलेख में हम आगे अपनी इस प्रस्थापना की विस्तार से चर्चा करेंगे और इस सन्दर्भ में, हमारे हिसाब से, जो ग़लत, अधूरी, 1अस्पष्ट और भ्रामक प्रस्थापनाएँ प्रचलित हैं, उनका खण्डन भी करेंगे।

यदि ठोस अमल की दिशा में आगे बढ़ना हो तो हमारे सामने सवाल कई हैं। पूँजीपति, बड़े-मँझोले व्यापारी, कुलक, फार्मर, नौकरशाहों से लेकर विभिन्न उच्च मध्य वर्ग के लोग और अन्य परजीवी जमातें – जो शासक वर्ग और उनके पक्षधर वर्ग हैं, उनके हितों में आपसी टकराव भी हैं, लेकिन व्यापक मेहनतकश जनता के विरुद्ध राजनीतिक नीतिगत निर्णय और कार्रवाई में वे एकजुट हैं। दूसरी ओर, जो गाँव और शहर के सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा हैं, निम्न मध्य वर्ग और निम्न मध्यम किसान हैं – जो क्रान्ति की मुख्य ताकत हैं, उनकी एकजुटता की राह में अन्य समस्याओं के अतिरिक्त एक अहम समस्या यह है कि वे जातियों में बँटे हुए हैं, उनके बीच कई स्तरों पर सामाजिक पार्थक्य {segregation} की छोटी-बड़ी दीवारें हैं। सवाल है कि जो जातिगत पूर्वाग्रह और अन्तरविरोध भारतीय समाज में, किसी न किसी रूप में लगभग सर्वव्याप्त हैं, उनके पीछे केवल अधिरचनात्मक कारण (पुराने संस्कार या कुछ लोगों के शब्दों में, ब्राह्मणवादी संस्कृति का प्रभाव) ही मुख्य कारण है, या कुछ आर्थिक कारण हैं जो अधिरचनात्मक कारणों को सम्बल और बल देने का काम करते रहते हैं? अक्सर देखने में आता है कि किसी जातिगत टकराव या दलित उत्पीड़न की घटना के पीछे, कम या ज़्यादा गहराई में वर्गों के आर्थिक हितों का टकराव मुख्य कारण होता है, लेकिन उस मामले पर समाज में जो ध्रुवीकरण होता है, वह जातिगत आधार पर ही होता है! भारत में चोट बैंक की बुर्जुआ संसदीय राजनीति जाति-ध्रुवीकरण को अपना एक मुख्य साधन बनाती है, लेकिन क्या वही तीखे जाति-अन्तरविरोधों का मुख्य कारण है? जाति यदि केवल अतीत का बोझ है, सामन्ती अवशेष है या “ब्राह्मणवादी” संस्कृति का प्रभाव है तो कुछ आमूलगामी सामाजिक आन्दोलन ही इसे कुछ समय में उखाड़ फेंकते। लेकिन ऐसा लगता नहीं है। जाति-व्यवस्था अपनेआप में उतनी जड़ नहीं है, जितनी लगती है। इसमें एक खास किस्म की आन्तरिक गतिशीलता है, जिसके चलते प्राचीन भारत में पैदा होकर मध्य काल और औपनिवेशिक दौर के ऐतिहासिक कालखण्डों को पार करती हुई यह आज भी अपनी प्रभावी उपस्थिति बनाये हुए है। हर सामाजिक-आर्थिक संरचना के अनुरूप ढल पाने में यह सक्षम थी और अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों के शासक वर्गों ने हितपूर्ति के लिए इसे अनुकूलित कर लिया है।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर कुछ विभ्रम तो किताबी पण्डितों की अपनी समस्या के नाते हैं, कुछ मार्क्सवाद के प्रति अज्ञानतापूर्ण पूर्वाग्रह से

भरे उत्पीड़ित जातियों के अतीत के मान्य नेताओं के विचारों के प्रभाव के चलते हैं, कुछ विभ्रम अमेरिकी समाजशास्त्रीय विचारों और 'अस्मिता की राजनीति' जैसी उत्तर-आधुनिकतावादी बुर्जुआ विचारधाराओं के चलते हैं, कुछ दलित जातियों से उभरे निम्न-बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के अपने वर्ग हितों से प्रेरित होकर गढ़े गये सिद्धान्तों के चलते हैं, कुछ अधकचरे और संशोधनवादी मार्क्सवादियों के यान्त्रिक भौतिकवादी विश्लेषणों और कुकृत्यों के चलते हैं और कुछ इसलिए भी हैं कि अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन ने, जैसे भारतीय क्रान्ति के अन्य बुनियादी प्रश्नों पर, वैसे ही जाति प्रश्न पर भी, सांगोपांग विश्लेषण करके ठोस कार्यक्रम नहीं रखा। लेकिन, इन विभ्रमों के कई ठोस वस्तुगत आधार भी हैं। जैसे, एक प्रमुख वस्तुगत आधार यह है कि दलित जातियों का बहुतायत सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा (ज्यादातर ग्रामीण और लगातार बढ़ती तादाद में शहरी) है, पर सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा वर्गों का बहुतायत दलित जातियों से नहीं आता। आज गाँवों में जो कुलक हैं, वे ज्यादातर मध्य जातियों के हैं और दलितों का उत्पीड़न करने में वे सवर्ण जातियों के भूतपूर्व सामन्ती भू-स्वामियों से कहीं आगे हैं, लेकिन उन्हीं मध्य जातियों की बहुसंख्यक आबादी गरीब या निम्न मध्य किसान है और मजदूर वर्गों में भी आ चुकी है। पूँजीपतियों में सभी जातियों के लोग हैं (दलित नाममात्र के ही हैं), पर नौकरशाही और बौद्धिक पेशों पर, विशेषकर उच्च स्तरों पर आज भी मुख्यतः सवर्णों का वर्चस्व है। आरक्षण के चलते इस दायरे में दलितों और कुछ मध्य जातियों की भी पहुँच बनी है, पर आबादी के अनुपात में उनका प्रतिशत बहुत कम है और निम्न से उच्च पदों की ओर वह प्रतिशत तेज़ी से घटता गया है। ऐसे में, यह व्यावहारिक सवाल बनता है कि जाति-व्यवस्था विरोधी कोई संयुक्त मोर्चा कैसे बने? सवर्ण और अन्य जातियों के गरीब मेहनतकशों को क्रान्तिकारी प्रचार के द्वारा जनवादी चेतना दिये बिना और साझा आर्थिक-राजनीतिक हितों के मुद्दों पर उन्हें लामबन्द किये बिना क्या यह सम्भव है? और जब तक इस प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाया जायेगा, तब तक जनता के विभिन्न वर्गों की क्रान्तिकारी लामबन्दी और रणनीतिक संयुक्त मोर्चा बना पाना भी क्या सम्भव हो सकेगा? क्या जातिगत आधार पर सिर्फ दलितों की लामबन्दी उनकी वास्तविक मुक्ति या जाति उन्मूलन की मंजिल तक हमें पहुँचा सकती है?

सवाल यह भी है कि दलित जातियों को कुछ रियायतें, सहूलियतें और सुरक्षा के लिए संवैधानिक-वैधिक प्रावधान एक बात है और दलित-उत्पीड़न, उनके सामाजिक पार्थक्य, अपमान और दोयम दर्जे की सामाजिक स्थिति का पूर्णतः खात्मा तथा जाति प्रथा का नाश सर्वथा अलग बात है। क्या आरक्षण जैसी रियायतों का रास्ता अन्ततः दलित-मुक्ति और जाति-उन्मूलन तक जाता है? क्या

भारतीय संविधान के दायरे (62 वर्षों का अमल हमारे सामने है) या उपनिवेशवाद के गर्भ से पैदा हुए और साम्राज्यवाद के युग में पले-बढ़े, अतिसीमित, विकृत, विरूपित भारतीय पूँजीवादी जनवाद के दायरे में, दूर-दूर तक हमें ऐसी कोई सम्भावना नज़र आती है? छह दशकों में दलितों को आरक्षण से कितना लाभ मिला है और इस रफ़्तार से वे अपनी स्थिति से कब तक उबर पायेंगे? आरक्षण जब दिया गया तब एक बुर्जुआ जनवादी अधिकार के रूप में वह सर्वथा उचित था, पर अब कहीं वह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवादी विभ्रम पैदा करने का साधन बनकर तो नहीं रह गया है? क्या यह भी सवाल नहीं है कि आरक्षण के ज़रिए ऊपर उठकर शहरी मध्यवर्ग में शामिल दलित बुद्धिजीवियों का गाँव और शहर के दलित सर्वहाराओं के साथ साझा हित नहीं बनता है और शासन-प्रदत्त रियायतों का लाभ ज़्यादातर उन्हें ही मिलता है, इसीलिए जाति-प्रथा के विरुद्ध तमाम आग उगलने के बावजूद, वे आरक्षण और संविधान के दायरे से बाहर जाति-नाश और दलित मुक्ति की किसी परियोजना पर सोचने को प्रायः तैयार नहीं होते, अतीत के दलित आन्दोलनों और उनके सैद्धान्तिक आधारों और उनके सिद्धान्तकारों की भूमिका पर सोचने-विचारने के लिए तैयार नहीं होते और वर्तमान में भी कभी, दलितों में से पूँजीपति पैदा करने की थीसिस देते हैं, कभी “बहुजन समाज” के संयुक्त मोर्चा या हर पार्टी में दलित नेताओं की संख्या बढ़ाने का विचार देते हैं, तो कभी अधिक सैद्धान्तिक स्तर पर जातिगत अस्मिताओं का ज़हन मनाने लगते हैं। अस्मिताओं के उभार का नतीजा यह देखने में आ रहा है कि पहले से ही जातियों-उपजातियों में बँटे दलितों के बीच विग्रह और पार्थक्य बढ़ गये हैं। आरक्षण में भागीदारी और आरक्षण के भीतर आरक्षण को लेकर उनमें आपस में तीखे संघर्ष हो रहे हैं। यह एक कड़वा सच है, जिसकी अनदेखी करके हम किसी सही नतीजे तक नहीं पहुँच सकते।

पूर्वाग्रह मुक्त होकर वैज्ञानिक वस्तुपरकता के साथ हमें डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा, इतिहास दृष्टि, आर्थिक विचारों, राजनीतिक विचारों और उनके द्वारा प्रस्तुत दलित मुक्ति की परियोजना का विश्लेषण-समाहार करना होगा। मूर्ति पूजा या नेताओं को अवतार बनाना ब्राह्मणवादी और पूँजीवादी नायकवादी वृत्ति है, इससे बचा जाना चाहिए। यह भी विचार का विषय है कि रिपब्लिकन पार्टी, दलित पैन्थर्स, बसपा, पुथिया तमिज़गम और दलित राजनीति की ऐसी उन तमाम छोटी-बड़ी पुरोधा पार्टियों की राजनीति के पतन या विघटन के कारण क्या थे, जो दलित राजनीति के उत्तर-अम्बेडकर दौर में समय-समय पर रैडिकल तेवर लेकर उभरती रही हैं और फिर इस या उस मुख्य बुर्जुआ पार्टी (उनकी विश्लेषण-दृष्टि से, सवर्ण या मध्यजातीय वर्चस्व वाली पार्टियों) के साथ गाँठ

जोड़ लेती रही हैं। जो बहुतेरे रैडिकल दलित सिद्धान्तकार हैं, व्यापक सामाजिक आधार वाला कोई जाति-विरोधी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने की उन्होंने क्यों कोई कोशिश तक नहीं की? हमें इस सवाल का उत्तर ढूँढ़ना ही होगा कि रैडिकल दलित राजनीति और नयी-पुरानी दलितवादी सैद्धान्तिकियों के पास दलित मुक्ति और जाति-व्यवस्था के आमूल नाश की परियोजना क्या है और उसके अमली रूप क्या हैं?

ज्यादातर क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट भी आजकल अपराधबोध और आत्मभर्त्सना की मुद्रा में यह स्वीकार करते हैं कि कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अतीत में जाति प्रश्न की घोर उपेक्षा की और इसके प्रति यान्त्रिक अर्थवादी या वर्ग-अपचयनवादी रवैया अपनाया। यह बात प्रायः बहुत सामान्यीकृत ढंग से कही जाती है या फिर इतिहास के ठोस तथ्यों का ठोस विश्लेषण करने के बजाय सार-संग्रहवादी ढंग से कुछ घटनाएँ गिना दी जाती हैं। अतीत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह कमजोरी पूरी लाइन और व्यवहार में किस रूप में थी और यह एक स्वतन्त्र चीज़ थी या भारत की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के ठोस विश्लेषण से क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल (strategy and general tactics) विकसित न कर पाने की आम कमजोरी का ही एक अंग थी? फिर भी क्या दलित-मुक्ति आन्दोलन में कम्युनिस्ट आन्दोलन का कुछ योगदान रहा है? यह भी इन दिनों एक चालू चलन वाला बयान है कि दलित नेताओं और आन्दोलनों के प्रति कम्युनिस्टों ने ग़लत रुख अपनाया। इस निष्कर्ष पर तफ़्सील से विचार की ज़रूरत है, तभी ठोस ग़लतियाँ-कमियाँ पता चलेंगी। देखना होगा कि तत्कालीन ज्वलन्त प्रश्नों पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान कम्युनिस्ट नेतृत्व और दलित नेतृत्व की अवस्थितियों में क्या अन्तर थे और कौन-सी अवस्थिति सही थी? देखना यह भी होगा कि दलित आन्दोलन के नेतृत्व का कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रति, कम्युनिज़्म की विचारधारा के प्रति क्या रुख था।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में इन दिनों कई प्रवृत्तियाँ चलन में हैं। अतीत के वर्ग-अपचयनवादी दृष्टिकोण को कोसते हुए जाति को अधिरचना की श्रेणी में डालने की भीषण ग़लती (यह नहीं पता चलता कि किसने डाला और कब डाला!) को मानते हुए कोई “मूलाधार-अधिरचना रूपक” विषयक मान्य मार्क्सवादी धारणा को ही यान्त्रिक मानता है, कोई इसकी यान्त्रिक समझ को जिम्मेदार मानता है, कोई उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग की जगह उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताता है, कोई जाति प्रथा से उत्पादन-सम्बन्ध को निर्धारित बताता है, कोई जाति प्रथा में उत्पादन-सम्बन्ध के परावर्तन की बात करता है, कोई इतिहास में जाति प्रथा को ही उत्पादन-सम्बन्ध बताता है, कोई

चीजों के परिघटनात्मक धरातल और संरचनात्मक धरातल की बात करते हुए यह थीसिस दे देता है कि आज के जटिल पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष सामाजिक आन्दोलनों (जैसे जाति, जेण्डर, पर्यावरण आदि के आन्दोलन) के रूप में ही होगा। यानी भीषण सैद्धान्तिक गड़बड़झाला है। इसकी सफाई की कोशिश के बिना और कोई उपाय नहीं है। एक प्रवृत्ति आम चलन में और है, हालाँकि उसके कई रूप हैं। वह है मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय की प्रवृत्ति। ऐसा करते हुए दलितों के हित में अम्बेडकर के अवदानों की चर्चा तो की जाती है, पर अम्बेडकर की दार्शनिक अवस्थिति, जाति-उन्मूलन की उनकी ठोस परियोजनाओं, उनकी अर्थनीति, उनकी समस्यामूलक राजनीतिक अवस्थितियों, संविधान निर्माता और विधि मन्त्री के रूप में उनकी भूमिका और मार्क्सवाद के बारे में उनके विचार की विस्तृत चर्चा नहीं की जाती, कुशलतापूर्वक उनके कुछ उद्धरण चुनकर कम्युनिस्ट धारा से उनकी नज़दीकी बनने की सम्भावना सिद्ध कर दी जाती है। दरअसल, अलग-अलग तरीके से यह उपक्रम दलित आबादी का दिल जीतने के लिए, उन्हें साथ लेने के लिए किया जाता है कि हमने तुम्हारे नायक को अपना लिया, अब तो साथ आ जाओ! इस प्रकार के भावनात्मक रणकौशलात्मक जोड़-तोड़ (tactical manoeuver) से जन मुक्ति संघर्ष में आबादी का कोई हिस्सा साथ नहीं आ जायेगा। यदि आप उसे सिद्धान्त और व्यवहार में कायल कर सकें कि आपके पास ही उसकी मुक्ति का सही और तर्कसंगत मार्ग है, तभी वह साथ आयेगा। हाँ, यह प्रक्रिया थोड़ी कठिन और लम्बी हो सकती है। अम्बेडकरवाद से समन्वय में कोई एतराज नहीं है, न ही अम्बेडकर की भूमिका को सिरे से खारिज किया जा सकता है, लेकिन यह तो देखना ही होगा कि अम्बेडकर के विचारों में वे कौन-कौन-सी चीजें हैं, जिन्हें लेकर मार्क्सवाद अपनी कमियाँ दूर कर सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से लैस लोग कभी भावनाओं की राजनीति नहीं खेलते, विज्ञान ठोस तथ्यपरकता और वस्तुपरकता की माँग करता है। उत्पादन-सम्बन्धों के समुच्चय के व्यापक और सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर हमारी यह स्पष्ट धारणा है कि भारत एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश है और यहाँ साम्राज्यवाद-सामन्तवाद और तमाम प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों का खात्मा करने वाली समाजवादी क्रान्ति को तैयारी के दौर से ही जाति-व्यवस्था के नाश की परियोजना प्रस्तुत करते हुए उसके तात्कालिक और दूरगामी कार्यभार तय करने होंगे। जाति सामन्ती अवशेष मात्र नहीं है। इसका पूँजीवाद ने अपने ढाँचे के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया है, अपने हितोचित बदले रूप में इसे अपना लिया है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। यह आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) में सावयवी (organic) ढंग से गुँथी-बुनी है तथा वैचारिक-राजनीतिक-

सामाजिक अधिरचना में इसकी प्रभावी उपस्थिति बनी हुई है।

इस आलेख की यह सीमा है कि इसमें हम अपनी अवस्थितियाँ संक्षेप में ही प्रस्तुत कर सकते हैं। फिर भी, नये सिरे से, एक लम्बी, सार्थक बहस शुरू करने के लिए इतना शायद काफी होगा। इस निबन्ध में हम मुख्यतः अपनी अवस्थिति सकारात्मक तौर पर रखेंगे। स्थान की सीमा के चलते इसकी प्रकृति पोलेमिकल नहीं होगी फिर भी कुछ प्रमुख ग़लत अवस्थितियों और आम भ्रान्त धारणाओं की यथास्थान समालोचना प्रस्तुत की जायेगी। इसके पीछे हमारा उद्देश्य एक स्वस्थ बहस की शुरुआत करना है। बेशक यह बहस लम्बी हो, पर अन्ततः कुछ सुनिश्चित नतीजों तक तो पहुँचना ही होगा।

जाति के उद्भव और विकास पर एक ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण

यहाँ जाति-व्यवस्था का पूरा इतिहास प्रस्तुत करना हमारा अभीष्ट नहीं है। उत्पादन-सम्बन्ध से जाति के सम्बन्ध को, जाति और वर्ग के सम्बन्ध को, तथा 'मूलाधार-अधिरचना' के मार्क्सवादी रूपक में जाति-व्यवस्था कैसे और कहाँ अवस्थित होती है, इस बात को समझने के लिए इतिहास की थोड़ी चर्चा की जायेगी।

पहली बात, जाति-व्यवस्था अपने इस विशिष्ट रूप में भारत में ही क्यों पैदा हुई और विकसित हुई, इसके ठोस वस्तुगत कारणों के बारे में कुछ सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अब तक हुए शोध इस दिशा में कुछ स्पष्ट संकेत नहीं देते। प्रारम्भिक या आदिम किस्म का सामाजिक श्रम-विभाजन उन्हीं वस्तुगत सामाजिक आधारों से उपजे धार्मिक-रीति-विधान आधारित सामाजिक आचारों के माध्यम से भारत में जाति-व्यवस्था के रूप में अश्मीभूत (fossilize) हुआ। इसी तरह से मिश्र में भी सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और वंशानुगत पेशों के आधार पर जाति-व्यवस्था से मिलती-जुलती व्यवस्था गिल्ड-व्यवस्था के रूप में अस्थिभूत (ossify) हुई थी, लेकिन शायद उसके पीछे धर्म-आधारित सामाजिक आचार-व्यवहार का उतना व्यवस्थित संहिताबद्ध आधार नहीं था और सामाजिक-आर्थिक संरचना में होने वाले बदलावों के अनुरूप खुद को ढालते जाने का लचीलापन नहीं था, इसलिए वह जाति-व्यवस्था जैसी दीर्घजीवी नहीं सिद्ध हुई। जाति-व्यवस्था के भारत में ही उद्भव और विकास के मूल कारणों की तलाश करते हुए हम यहाँ मौसम, जलवायु, जीवन और कृषि-उत्पादन की अधिक अनुकूल परिस्थितियों, उससे पैदा होने वाली इतिहास की और श्रम प्रक्रिया की मन्थर गति, श्रम विभाजन के

दायरे में शुरुआत से ही बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम के अधिक कुशल विभाजन (और फिर शारीरिक श्रम के दायरे के भीतर के उप-विभाजन) और अत्यधिक खाली समय के उपभोगी परजीवी बौद्धिकों (ब्राह्मण पुरोहितों) द्वारा सामाजिक आचार-शास्त्र के निर्माण में बरती गयी पटुता एवं दूरदर्शिता जैसे कारकों के बारे में सोच सकते हैं। लेकिन यह इतिहास का नहीं, बल्कि अनुमान से लेकर अटकलबाजी तक का दायरा होगा। जाति-व्यवस्था कैसे पैदा हुई और इतिहास के बदलते युगों के साथ अपना समायोजन-अनुकूलन करते हुए क्यों और किस प्रकार बनी रही, ऐतिहासिक शोधों के आधार पर इस पर ज़रूर चर्चा की जा सकती है। और संक्षेप में हम यही करेंगे, क्योंकि वर्तमान स्थिति और जाति उन्मूलन की किसी परियोजना पर बहस के लिए इतना तो ज़रूरी है।

दूसरी बात, अक्सर बहुत चलताऊ ढंग से मार्क्सवादियों पर यह आरोप चस्पाँ कर दिया जाता है कि वे ऐतिहासिक समाज-विकास की मार्क्स-एंगेल्स द्वारा चिन्हित अवस्थाओं (दास प्रथा-सामन्तवाद-पूँजीवाद) और उनकी 'एशियाई उत्पादन-प्रणाली' और 'आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों की गतिहीनता' की धारणा को यान्त्रिक ढंग से भारत पर लागू करते हैं। यह कोरा अज्ञान है। आज से आधी सदी पहले ही (सबसे पहले **कोसम्बी** द्वारा) एशियाई उत्पादन-प्रणाली और भारत में यूनान और रोम जैसी दास प्रथा की मौजूदगी की धारणा ख़ारिज की जा चुकी थी और आज, तफ़्सीलों के मतभेदों को छोड़ दें तो इस पर प्रायः सभी मार्क्सवादी इतिहासकारों की आम सहमति है। यही बात, कमोबेश, भारतीय ग्राम समुदायों की गतिहीनता पर भी लागू होती है। हालाँकि यह तथ्य आज भी स्थापित है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, पहले से मौजूद भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ ऐसे बदलाव आये जो मार्क्स की 'प्राच्य स्वेच्छाचारिता' (oriental despotism) के लक्षणों से मेल खाते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि एशियाई ग्राम समुदायों की समरसता और गतिहीनता के बारे में 1850 के दशक में मार्क्स के जो विचार थे उनमें 1870 के दशक में महत्वपूर्ण बदलाव आये थे। इस विषय पर **इरफ़ान हबीब**, **सुनीति कुमार घोष** सहित कई विद्वानों के निबन्ध 1980 के दशक में ही प्रकाशित हो चुके हैं। एक और बात की चर्चा यहाँ प्रासंगिक है। प्रायः ऐसी बातें की जाती हैं कि मार्क्सवाद का अध्ययन मॉडल यूरोप था, अतः मार्क्सवाद भारतीय समाज और उसकी जाति-व्यवस्था जैसी विशिष्टताओं के अध्ययन में असमर्थ सिद्ध हुआ है। यह एक सतही नज़रिया है। मार्क्सवाद का जन्म मुख्यतः यूरोपीय इतिहास की गतिकी के अध्ययन से हुआ (जो पूँजीवादी विकास का क्लासिकी मॉडल था) और जर्मन दर्शन, ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ़्रांसीसी समाजवाद उसके मुख्य स्रोत थे। पर पूरे विश्व इतिहास के विकास की सामान्य दिशा भी मार्क्स-एंगेल्स की दृष्टि में थी।

ऐतिहासिक घटनाक्रम-विकास के सामान्यीकरण से निःसृत द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद एक विश्वदृष्टि (worldview) और एक प्रणाली-विज्ञान (methodology) है, जो जीवन और प्रकृति के अध्ययन और उनमें सचेतन हस्तक्षेप का मार्ग बताता है। यही कारण है कि रूस, चीन से लेकर एशिया, अफ्रीका, लातिन अमेरिका के कई देशों में सामाजिक-आर्थिक संरचना के विविध पक्षों के अध्ययन और वर्ग संघर्ष की रणनीति विकसित करने में इसका प्रयोग हुआ है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। प्रसंगवश, यहाँ यह भी बताते चलें कि **माक्स और एंगेल्स ने जर्मन विचारधारा** (The German Ideology, 1845.46) से लेकर, **पूँजी, खण्ड 1** तक छह या सात स्थानों पर जाति-व्यवस्था पर कुछ टिप्पणियाँ की हैं और कुछ व्याख्याएँ दी हैं, जो जाति प्रश्न की समझ बनाने के लिए महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि देती हैं (इन टिप्पणियों-व्याख्याओं के लिए **बी.आर. बापूजी** का शोध निबन्ध **Conception of Caste in Marx** और **रंगनायकम्मा** का लेख **Marx on Caste** द्रष्टव्य हैं)।

अभी तक प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ज़्यादा स्वीकार्य स्थापना यही है कि हड़प्पा-मुअनजोदड़ो की सैन्धव/सारस्वत नागर सभ्यता आर्यों के आक्रमण से नष्ट नहीं हुई, बल्कि उसके कारण कुछ और थे (नदियों की धारा बदलना, आन्तरिक गतिहीनता या आन्तरिक वर्ग संघर्ष-कुछ भी हो सकता है)। उत्तर-पूर्व से घुमन्तू पशुचारी आर्य जनजातियों के भारत में प्रवेश का सिलसिला हड़प्पा सभ्यता के पराभव के कुछ शताब्दियों बाद शुरू हुआ। घुमन्तू जनजातियों के लिए रक्त की शुद्धता का कोई मतलब नहीं था और आनुवंशिक तौर पर आर्य कोई एक नस्ल नहीं थे लेकिन नृजातीय (Ethnic) अर्थों में वे अपनी पृथक अस्मिता के प्रति सचेत अवश्य थे। आर्यों के उपमहाद्वीप में प्रवेश के समय सिन्धु घाटी की नागर सभ्यता भले ही विघटित हो चुकी हो, लेकिन उसकी प्राक-आर्य आबादी अपने पुरोहितों और आम जनों सहित सम्भवतः जंगलों और छोटी बस्तियों में बिखर गयी थी। आर्यों के साथ उनके संघर्ष और उनकी पराजय के बाद उन्हें दास बनाये जाने के प्रचुर प्रमाण ऋग्वेद में मौजूद हैं। यही नहीं, आगे बढ़ते हुए अन्य अनाथ कबीलों से भी आर्यों के टकराव और उन्हें पराभूत करके अपनी सामाजिक व्यवस्था में घुला-मिला लेने की ओर मिथकीय और भाषा-शास्त्रीय साक्ष्य इंगित करते हैं। मुअनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों तथा 2,300-2,000 ईस्वी पूर्व के दौरान मेलुहा (सिन्धु घाटी) से मेसोपोटामिया को हुए दासों के निर्यात से साबित हो चुका है कि सिन्धु घाटी के शहरों में एक वर्ग समाज मौजूद था जिसमें दासता की संस्था मौजूद थी। दासों को बल-प्रयोग और धर्म-आधारित सामाजिक रीति-विधानों द्वारा नियन्त्रित किया जाता था, अतः उस सभ्यता की बिखरी हुई आबादी के पुरोहित, घुमन्तू पशुचारक आर्यों के कबीलाई पुरोहितों से टोटम और

वर्जनाओं (totems and taboos) और धार्मिक अनुष्ठानों के मामले में उन्नत थे। नतीजतन, पशुपालन से कृषि और बस्तियाँ बनाने की ओर उन्मुख आर्य जनजातियों के पुरोहित समुदाय के साथ प्राक्-आर्य और अन्य अनार्य जनजातियों के पुरोहितों के घुल-मिल जाने की प्रक्रिया अकाट्य तथ्य प्रतीत होती है और ब्राह्मण वर्ण के उद्गम को इसी प्रक्रिया में देखा जा सकता है। आगे चलकर कई विदेशी, विशेषकर सीथियन पुरोहिती समुदायों के भी ब्राह्मण वर्ण में घुल-मिल जाने (कढ़दा या मग ब्राह्मण) के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। उपनिषदीय विमर्श के केन्द्र, वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश तक आते-आते रंग और नाक-नक्श के हिसाब से ब्राह्मणों की आबादी एकदम मिलीजुली होने के साक्ष्य हमें वृहदारण्यक उपनिषद और पातंजलि से मिलते हैं।

सबसे प्रारम्भिक वैदिक साक्ष्यों से हमें *आर्य* और *दास* या *दस्यु* दो वर्णों का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर विवाह नहीं होते थे। दास प्राक्-आर्य और अनार्य समाज के वे सामान्य जन थे जिनकी स्थिति रोम की चैटेल दासता (chattel slavery) जैसी नहीं थी जिसमें दास व्यक्तिगत दास स्वामियों की निजी सम्पत्ति होते थे, बल्कि स्पार्टा के हेलॉट जैसी मातहतती (helot like servitude) थी क्योंकि आर्यों का पशुधन कबीले की सामुदायिक सम्पत्ति हुआ करती थी और निजी सम्पत्ति की परिघटना अभी विकसित नहीं हुई थी। जो ज़मीन भी वे जोतने-बोने लगे थे, वह तब तक कबीले की साझा सम्पत्ति ही थी। पशुपालन से कृषि की ओर बढ़ते हुए अधिशेष (surplus) के उत्पादन और श्रम विभाजन के आदि-प्ररूप (proto-type) का धीरे-धीरे विकास हुआ और इसी के साथ समाज में सामाजिक-आर्थिक विभेदीकरण और वर्गों के बनने की प्रक्रिया शुरू हुई और आगे बढ़ी। दान-स्तुतियों में जनजातीय मुखियों के कुछ विशिष्ट समूहों को भेंटस्वरूप दास देने के हवाले मिलते हैं। अधीनस्थ श्रम और खाद्य उत्पादन की परिष्कृत तकनीकों के साथ आर्य जनजातियाँ पूरब की ओर दोआब क्षेत्र में आगे बढ़ीं और नयी स्थायी बस्तियाँ बसाने लगीं। इस दौरान जनजातीय कबीलाई संगठन के भीतर उत्पादन-सम्बन्ध चार वर्ण-जातियों – ब्राह्मण (पुरोहितगण), राजन्य या क्षत्रिय (योद्धा और शासक), विश (सामान्य जन, मुख्यतः किसान) और शूद्र (अनार्य मूल के हेलॉट टाइप सेवकगण) के रूप में थे। चातुर्वर्ण्य का सबसे शुरुआती उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में मिलता है हालाँकि यह हिस्सा ऋग्वेद में बाद में प्रक्षिप्त लगता है। ज़्यादा सम्भावना यह है कि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था अपने सुस्पष्ट रूप में परवर्ती वैदिक काल – यजुर्वेद, अथर्ववेद और प्रारम्भिक ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में उभरकर सामने आयी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच विभाजन का एक भौतिक आधार पशुपालन के ही दौर से मौजूद था। पशुपालक कबीलों में प्रायः दो अभिजात श्रेणियाँ उभरती देखी गयी हैं – एक जो पशुओं

के रेवड़ लूटने और अपने रेवड़ों की सुरक्षा का दायित्व सँभालते थे और दूसरे वे जो पशुधन की समृद्धि के लिए दैवी कृपा हेतु पशुबलि और अपने समाज की कीमती चीजें देवताओं को भेंट करने के अनुष्ठानों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। कृषि की अवस्था में भी धार्मिक अनुष्ठानों की महत्ता मौजूद थी, देवता बढ़ गये थे और पूजा के रीति-विधान जटिल हो गये थे। साथ ही समाज व्यवस्था संचालन के लिए धार्मिक आचार संहिता बनाने का महत्त्व बढ़ गया था। पुरोहिती और वर्ण व्यवस्था को संरक्षण देने के अतिरिक्त कृषि कार्य के नियमन के लिए पंचांग के महत्त्व और इस विद्या पर ब्राह्मणों के एकाधिकार ने भी ब्राह्मणों की स्थिति को मजबूत बनाया।

उल्लेखनीय है कि चातुर्वर्ण्य में घुलने-मिलने की क्रिया केवल ब्राह्मणों के स्तर पर ही नहीं हुई। राजन्य या क्षत्रिय भी इससे उतने ही प्रभावित थे क्योंकि आक्रमणों और विद्रोहों के कारण सशस्त्र शक्ति पर वंशगत एकाधिकार बनाये रख पाना कठिन था। विजित जनजातियों के मुखियाओं को भी कई बार राजन्य वर्ण में शामिल कर लिया जाता था। आगे चलकर नये भूभाग पर (अथवा विद्रोह करके) अपनी सत्ता स्थापित करने वाले कई शूद्र राजा भी क्षत्रिय मान लिये गये। उसके बाद तक बाहर से आक्रमण करके राज्य स्थापित करने वाले शासकों के कालान्तर में क्षत्रिय मान लिये जाने के साक्ष्य मिलते हैं। पुरोहितों और शासकों को कुछ सुनिश्चित भेंट देकर शूद्रों के स्वतन्त्र कृषक बन जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। अब शूद्रों और वैश्यों के बारे में कुछ बातें। वैश्य वर्ण के लोग पहले ग्राम समुदायों में कृषि-कार्य करते थे और शूद्र हेलाँट टाइप सेवकों के रूप में खेतों में काम करते थे। कृषि के क्षेत्र-विस्तार और उत्पादन प्रक्रिया में प्रगति के साथ श्रम-विभाजन संश्लिष्ट हुआ और विनिमय का महत्त्व बढ़ता चला गया। वैश्यों का एक हिस्सा व्यापार में जा लगा। यह प्रक्रिया बढ़ती गयी। बौद्ध मत के उदय की पूर्वबेला में अनेक उत्पादन कौशलों और उपकरणों के विकास के परिणामस्वरूप जो द्वितीय नगरीय क्रान्ति हुई उसमें व्यापार के विस्तार और विविधीकरण के चलते व्यापार क्षेत्र ने वैश्यों के अधिकांश भाग को अवशोषित कर लिया और कई नयी वणिज्य जातियाँ भी इस वर्ण में शामिल हो गयीं। खेती का काम अब ज्यादातर शूद्र वर्ण का काम हो गया। और धीरे-धीरे हेलाँट जैसी उनकी स्थिति में भी थोड़ा बदलाव आया।

अब उन अन्त्यज जातियों के उद्भव की प्रक्रिया देखें जो चातुर्वर्ण्य के भी बाहर, सबसे नीचे थीं, जिन्हें समाज में व्यवस्थित होने के बाद, अशुद्ध काम करने वाले अस्पृश्यों और अन्य 'नीची' श्रेणी का काम करने वाली दास जातियों का दर्जा मिला। आर्यों द्वारा पराभूत होने वाले कई भोजन-संग्राही गण ही 'निम्नतम' जातियों में रूपान्तरित हुए। वे इतना नीचे थे कि चातुर्वर्ण्य के बाहर

थे। मनुस्मृति में पशु फँसाने वाले सैरन्ध्र, नाविक कैवर्त, मछली पालने-पकड़ने वाले निषाद, जंगली जानवरों का शिकार करने वाले मेद, आन्ध्र, चुंचु और माद्गू, बिलों में रहने वाले जानवरों का शिकार करने वाले क्षत्री, पुक्कस और उग्र, बेंत का काम करने वाले पाण्डु, सोपाक और चमड़े का काम करने वाले कारावर और घिग्वण को 'संकर' जाति की श्रेणी में रखा गया है। मनु ने इन्हें चातुर्वर्ण्य के बाहर पन्द्रह हीन वर्णों की भी संज्ञा दी है। बौद्ध ग्रन्थों में चाण्डालों और निषादों का शिकारियों के रूप में वर्णन मिलता है। ये मूल अस्पृश्य जातियाँ थीं, जो शुरू से ही ग्राम समुदायों में आवासीय पृथग्वासन (aparthied) का शिकार थीं। जातक कथाओं में भी हमें शिल्पियों (धातुकर्मियों, काष्ठकारों) के भी अलग गाँव के उल्लेख मिलते हैं और मनुस्मृति में काष्ठकारों, रथकारों, चिकित्सकों को भी 'संकर' जातियों में रखा गया है। मुमकिन है कि द्वितीय नगरीय क्रान्ति के समय, उदीयमान श्रम विभाजन के दबाव में, व्यापकतर समाज में अवशोषित हो रहे कबीलों के कुछ भाग अलग होकर हस्तशिल्पियों की अलग जातियाँ बन गये हों और उन्हें अन्त्यज या संकर की कोटि में रख दिया गया हो।

उपलब्ध साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में चार वर्णों के भीतर, विशेषकर ऊपर के तीन वर्णों के भीतर, अन्तःविवाह या सगोत्रीय विवाह (Endogamy) के नियम नहीं थे। पर बाद में ये अन्तःविवाह के नियम से बँध गये। सम्भावना यह भी है कि जब कबीलों का व्यापकतर समाज में अवशोषण हुआ हो तो वे अपनी अन्तःविवाह-सम्बन्धी परम्पराओं को भी साथ लाये हों। वर्णों के भीतर अलग उपसमूहों के रूप में जातियों का उद्भव विभिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का परिणाम था। इसका मुख्य भौतिक आधार था, उत्पादक शक्तियों के साथ क्रमशः जटिल होता श्रम-विभाजन, जिसे सुव्यवस्थित करने के लिए राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त धार्मिक आवरण में सुनिश्चित सामाजिक आचार, पदानुक्रम और श्रेणी-विभाजन ज़रूरी था। अन्य जनजातीय समुदायों का वर्ण-व्यवस्था में समायोजन तभी सम्भव था जबकि उसके मूल्यतन्त्र को बनाये रखते हुए उन समुदायों की सीमारेखाएँ सुनिश्चित कर दी जायें। मनुस्मृति में ज़ोर देकर कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति (द्विज) हैं, शूद्र एकजाति हैं। पन्द्रह हीन वर्णों की चर्चा बाद में इनके भी बाहर की गयी है। इस प्रकार ऊपर के तीन वर्णों और शूद्रों के बीच और सवर्णों (शूद्र सहित) और अवर्णों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी गयी। ब्राह्मण विधि-निर्माताओं द्वारा 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' कार्यों के नज़रिये से जो सामाजिक पद-सोपानक्रम निर्धारित किया गया, अस्पृश्यता उसकी तार्किक परिणति थी। 'नीची' जातियाँ वंशानुगत आधार पर अशुद्ध और दासोचित काम करने के लिए बाध्य थीं। लेकिन मुख्य बात यह थी कि वे अस्पृश्य जातियाँ किसानों या श्रेष्ठतर

भू-स्वामियों के लिए कम से कम लागत पर कठिन श्रम करने के लिए उपलब्ध थीं और उन्हें स्वामित्व के अधिकार या नियमित किसान होने की मान्यता मिलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। इन जातियों के प्रति शेष समाज में जो गहरी शत्रुता का भाव था उसका मूल स्रोत हितों का यही मूल टकराव था और 'शुद्धता'-'अशुद्धता' की धारणाएँ इसी तथ्य के औचित्य-प्रतिपादन का साधन थीं।

वैदिक कालों में दासों की संख्या बहुत कम थी। कृषि अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक दौर में ज़्यादातर दास उत्पादक श्रम के बजाय घरेलू कामों में लगे थे। चार सौ ईस्वी पूर्व से 100 ईस्वी पूर्व तक के पालि ग्रन्थों और **कौटिल्य** के **अर्थशास्त्र** के अनुसार, उत्तर-वैदिक और मौर्य काल में उत्तर-पूर्वी भारत में बड़े पैमाने पर दासों और कर्मकारों (भाड़े के मजदूरों) का खेती के काम में इस्तेमाल किया जाता था। मौर्य काल में **राष्ट्रभूमि** (किसानों की ज़मीन) पर किसान भी दासों और भाड़े के मजदूरों का इस्तेमाल करते थे और **सीताभूमि** (राजकीय फार्मों) का तो सारा काम ही इन्हीं के द्वारा होता था।

यह सही है कि जाति-सिद्धान्त को धर्म का अंग बनाकर और जातियों के सामाजिक आचार एवं पार्थक्य के धार्मिक नियम-विधान बनाकर ब्राह्मणों ने जाति-व्यवस्था को सार्वभौम बनाने और उसके रूप में सामाजिक श्रम-विभाजन को अशमीभूत बनाने में सबसे मुख्य भूमिका निभायी। लेकिन इस प्रक्रिया में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की सहायक भूमिका की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। आत्मा के गमनागमन का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का एक बुनियादी आधार था। यह जाति प्रथा का प्रकारान्तर से औचित्य-प्रतिपादन करता था और जाति प्रथा से सर्वाधिक पीड़ित लोगों को विश्वास दिलाता था कि उनकी दुरवस्था उन्हीं के पूर्वजन्म के कर्मों का फल है और अपना कर्म करते हुए ही वे अगले जन्म में इससे मुक्त हो सकते हैं। मनुस्मृति में यह सिद्धान्त जाति प्रथा की विचारधारा का अभिन्न अंग है। पशुपालन की जगह कृषि के स्थापित हो जाने के बाद, और ब्राह्मणों द्वारा बड़े पैमाने पर पशुबलि का चलन नुकसानदेह हो जाने के बाद, बौद्ध धर्म द्वारा अहिंसा के सिद्धान्त-प्रतिपादन का एक भौतिक आधार था और पशुपालक वैश्यों में इसकी लोकप्रियता स्वाभाविक थी, लेकिन इसी के चलते भोजन-संग्राही गणों को दासता और निकृष्टता की दशा में धकेलने का नया औचित्य भी मिल गया। ब्राह्मण ग्रन्थों की ही तरह बौद्ध ग्रन्थ में भी पशु हत्या करने वाली जातियों को हीन बताया गया है। अहिंसा के इसी सिद्धान्त के चलते शूद्रों के अतिरिक्त जो वैश्य खेती में लगे थे, वे भी शूद्र माने जाने लगे। जिस प्रकार मनुस्मृति ने हल की लोहे की नोक से जीव-हत्या की निन्दा की और बौधायन ने वेद पढ़ने वालों को खेती से दूर रहने को कहा, उसी प्रकार बुद्ध ने

भी हल चलाने और खेत की सिंचाई से जीवन की क्षति होने के कारण भिक्षुओं को खेती से दूर रहने का आदेश दिया। अहिंसा का सिद्धान्त जैन धर्म का भी था और उसका भी तात्कालिक सामाजिक जीवन पर यही प्रभाव पड़ा। इससे भी आगे बढ़कर, जैन धर्म ने ब्राह्मणवाद जैसी ही कठोर जाति-व्यवस्था विकसित की। जिनसेन के आदिपुराण और हेमचन्द्र के आदिश्वरचरित के अनुसार आदिनाथ ऋषभ ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः अपनी बाँहों, जाँघों और पैरों से पैदा किया और जैन नीति-वचनों के अनुसार, उनके पुत्र और उत्तराधिकारी भरत ने धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए ब्राह्मणों का निर्माण किया। जैन धर्म भी ब्राह्मण विधि-निर्माताओं की ही तरह जातिगत पेशों के वंशानुगत निर्धारण की बात करता है, शूद्रों और दस्तकारों के प्रति समान धार्मिक पूर्वाग्रह दिखाता है और चाण्डालों को 'अशुद्ध' बताता है।

भारत के प्राक-सामन्ती समाज में ही बौद्ध मत के उदय (500 ईस्वी पूर्व के आसपास) से लेकर गुप्त साम्राज्य (चौथी-पाँचवीं सदी ईस्वी) तक के दौरान बढ़ते और जटिल होते श्रम विभाजन और अनार्य गणसमूहों के व्यापकतर आर्यगण समाज में अवशोषण की लम्बी प्रक्रिया के स्वरूप चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से कई जातियों वाली जाति-व्यवस्था अपने सुव्यवस्थित नियम-विधानों सहित अस्तित्व में आ चुकी थी। इनमें से कुछ जातियाँ चार वर्णों के सोपानक्रम के भीतर थीं, पर यह पहले जैसा चातुर्वर्ण्य नहीं था और कुछ अवर्ण जातियाँ (उनमें भी ऊँच-नीच और छूत-अछूत का पदानुक्रम था) इससे बाहर रखी गयी थीं। 'शुद्ध'-'अशुद्ध' की स्पष्ट विभाजक रेखा बनायी जा चुकी थी। अन्तःजातीय विवाह (Intracaste marriage) के नियम रूढ़ हो चुके थे। यहाँ यह उल्लेख ज़रूरी है कि श्रम विभाजन की जिस प्रगति के साथ जाति-व्यवस्था संघटित हुई थी, उसी प्रक्रिया की एक परिणति के तौर पर समाज में स्त्रियों की मातहती पैदा हुई थी और सजातीय-सगोत्रीय अन्तःविवाह की प्रथा स्थापित हुई थी, जिसने, आर्थिक स्तर पर, मुख्य लक्ष्य "विशेष कौशल" को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित करने में अहम भूमिका निभायी, लेकिन दूमरी ओर समाज में क्षैतिज गतिशीलता की सम्भावनाएँ भी कम हो गयीं। कबीलाई व्यवस्था के भीतर से जनपदों के छोटे राज्य और फिर साम्राज्य विकसित हुए। इस तरह राज्यसत्ता का विकास हुआ। नगरों में तो निजी सम्पत्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट था, पर ग्राम समुदायों में भी जातिगत विशेषाधिकारों और पेशों के आधार पर काम के, उत्पादों और सुविधाओं के बँटवारे के आधार पर निजी स्वामित्व का पहलू मौजूद था। इस तरह यहाँ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और स्त्रियों की पराधीनता आधारित परिवारों, निजी स्वामित्व और राज्यसत्ता के आविर्भाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया घटित हुई। सापेक्षतः कठोर श्रम-विभाजन, स्वामित्व के रूपों

का निर्धारण और वितरण के नियमों का निर्धारण – इन तीन पहलुओं को देखें, तो जाति-व्यवस्था अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध बनती थी। इस उत्पादन-सम्बन्ध से उत्पन्न और फिर इसे प्रभावित करने वाली तथा संचालित करने वाली धार्मिक विचारों-संस्थाओं की धर्म आधारित राजनीतिक-सामाजिक संस्थाओं एवं आचारों की एक अधिरचनात्मक अट्टालिका थी। अलग-अलग जातियों के समूहों से ही वर्ग संघटित हुए थे। शासक वर्ग (मुख्यतः क्षत्रिय), सत्ता के नीति नियामक सिद्धान्तकार (ब्राह्मण), व्यापारी (वैश्य), किसान जातियाँ (शूद्र) और फिर कृषि कार्य व अन्य विविध शिल्पों से जुड़ी अवर्ण/अन्यज/अस्पृश्य जातियों की दास (निश्चय ही अपने होमेरिक समकक्षों जैसे नहीं) या बँधे हुए, पराधीन मजदूरों की आबादी जिसे केवल श्रम करके जीवन-यापन का अधिकार था, अन्य कोई आर्थिक या सामाजिक अधिकार नहीं था। इस तरह, प्राचीन भारत में वर्ग और जाति एक-दूसरे को अतिच्छादित (overlap) करते थे, फ़र्क यह था कि जातियाँ ऐसे वर्ग थीं, जो वंशानुगतता/अन्तःविवाह के कारण अचल थीं, रूढ़ थीं। जाति-व्यवस्था का तन्त्र ऐसा था कि कम से कम बलप्रयोग करके उत्पादकों से अधिकतम अधिशेष निचोड़ा जा सकता था, पर किसान और उनसे भी अधिक, अस्पृश्य कामगार जातियों के प्रति रोज़मर्रा के जीवन में बर्बर हिंसा और अपमान का व्यवहार निहित था। धार्मिक अधिरचना का वर्चस्व विद्रोहों की सम्भावना को क्षीण बनाना था (फिर भी हमें कुछ विद्रोहों के संकेत मिलते हैं)।

सामन्तवाद के विभिन्न दौरों में जाति-व्यवस्था

उत्पादक शक्तियों के मन्थर गति से विकसित होने के बावजूद, एक दौर आया जब उनके दबाव से प्राक्-सामन्ती भारत के उत्पादन-सम्बन्ध चरमराने और फिर टूटने लगे, जिसकी परिणति भारतीय सामन्तवाद के उद्भव के रूप में सामने आये। यहाँ प्रारम्भिक मध्यकाल में सामन्तवाद के उद्भव और विकास की प्रक्रिया के बारे में इतिहासकारों के बीच मौजूद मतभेदों की चर्चा सम्भव नहीं, न ही जाति-विषयक हमारे विमर्श में उसकी कोई विशेष आवश्यकता है। विस्तृत होते भूभागों पर कृषि उत्पादन पर नियन्त्रण बनाये रख पाना कालान्तर में साम्राज्यों की राज्यसत्ता के लिए असम्भव होता चला गया, अतः विकेन्द्रीकरण के लिए दबाव बढ़ा और बड़े पैमाने पर मन्दिरों और बौद्ध मठों को ज़मीनें दानस्वरूप दी गयीं। मठ और मन्दिर इन ज़मीनों पर निचली जातियों के भाड़े के मजदूरों, सेवकों और ग़रीब किसान जातियों से काम कराते थे, या ग्राम समुदायों को पट्टे पर दे देते थे। राजकीय स्वामित्व और ग्राम समुदायों के स्वामित्व की ज़मीनें भी थीं।

सम्राट या बड़े राजे अपने मातहत शासकों से कर वसूलते थे और वे शासक अपने क्षेत्र के ग्राम समुदायों पर शासन करते थे। मुमकिन है कि कालान्तर में गाँवों के भीतर से भी भू-स्वामियों का एक वर्ग उभरा हो जो सशस्त्र शक्ति रखता हो तथा राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी मध्यवर्ती की भूमिका निभाता हो। स्थिति चाहे जो भी हो, इन परिवर्तनों से ग्राम समुदायों की आन्तरिक संरचना पर, विशेषकर किसान जातियों और 'निम्नतम' श्रेणी के दस्तकारों, अस्पृश्य जातियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

दक्षिण भारतीय समाज पर भी यदि दृष्टि डालें (जो सातवाहनों के समय ही ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आ चुका था), तो वहाँ भी, ईसा पश्चात पहली सहस्राब्दी के मध्य तक ग्राम समुदायों की किसान आबादी शक्तिशाली सामन्तों के कमरतोड़ लगान के नीचे पिस रही थी, पहले समुदायों में उपभोग किये जाने वाले अधिकारों से भी वे वंचित हो चुके थे और समुदायों के मुखिया धीरे-धीरे सामन्ती ज़मींदारों जैसी हैसियत पा चुके थे। जाति संरचना यहाँ थोड़ी भिन्न थी। क्षत्रिय श्रेणी की कोई जाति यहाँ नहीं थी। ऊपर ब्राह्मणों के नीचे किसान (शूद्र) जातियाँ थीं और निचली जातियों की नारकीय स्थिति उत्तर जैसी ही थी। यहाँ के सामन्त किसान जातियों से ही उभरे थे। दक्षिण की अर्थव्यवस्था में तटवर्ती नगरों की विशेष भूमिका थी। यहाँ पल्लवों, चालुक्यों, चोलों के विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत ज़मीन पर राजकीय स्वामित्व मौजूद रहा और ज़्यादातर सामन्तों की स्थिति गैर-मौरूसी ज़मींदारों की थी।

पूर्वी भारत (बंगाल से त्रिपुरा तक का क्षेत्र, जो प्राक्-सामन्ती काल में – गुप्त वंश के शासनकाल तक ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आ चुका था) में भी सामन्ती भूमि सम्बन्धों का विकास हुआ। यहाँ भी क्षत्रिय और वैश्य जातियाँ नहीं थीं और सत्ता के लिए टकराव और समझौते ब्राह्मणों और शूद्रों के बीच हुए। यहाँ ज़्यादातर शूद्र राजा थे जिन्होंने क्षत्रिय बनने की नाकामयाब कोशिश भी की। संस्कृतीकरण की इस प्रक्रिया का बस इतना परिणाम हुआ कि कुछ शूद्र जातियों की स्थिति अन्यो से बेहतर हो गयी। जहाँ तक “निम्न” जातियों की बात है, तो उनकी सामाजिक स्थिति शेष भारत से एकदम भिन्न नहीं थी।

छठी शताब्दी के बाद, कई कारणों से, जिनकी चर्चा यहाँ अवान्तर प्रसंग होगा, सामन्ती भारत में, कुछ आगे-पीछे, व्यापार और नगरों के शिल्प में गिरावट की प्रक्रिया शुरू हुई और विनगरीकरण या ग्रामीणीकरण की प्रक्रिया तेज़ होती चली गयी। (हालाँकि दक्षिण-भारत में तटवर्ती नगरों से व्यापार जारी रहने के चलते वहाँ स्थिति थोड़ी भिन्न थी।) काफी कारीगर आजीविका के लिए गाँवों में वापस जाकर कुछ खेती और कुछ दस्तकारी में लग गये। जातियों का और अधिक विभेदीकरण और उपविभेदीकरण हुआ और यह नयी आबादी 'निम्न'

शूद्र और उसके नीचे की जातियों के रूप में व्यवस्थित हो गयीं। ग्यारहवीं सदी में अलबरूनी ने बुनकरों-मोचियों सहित आठ जातियों को समाज बहिष्कृत अन्त्यज जातियों की श्रेणी में रखा था। कारीगरों के शहरी गिल्ड समाप्त हो गये। जाति-व्यवस्था में पेशों की वंशानुगतता के चलते अतीत में उत्पादक शक्तियों के विकास में जो भी मदद मिली थी, वह स्थिति भी अब नहीं रही। ग्राम समुदाय अलग-थलग और आत्मनिर्भर हो गये। विनिमय काफी हद तक गाँव की सीमाओं में सिमट गया और ग्राम समुदायों को अपने आयातों के बदले अधिक फालतू उपज देने की ज़रूरत नहीं रही। केवल नमक और धातु जैसी कुछ चीज़ें ही बाहर से मँगानी पड़ती थीं। इन बदलावों से ग्राम समुदाय शासक वर्ग को अधिक अधिशेष दे पाने में सक्षम हो गये। पहले से भी अधिक रूढ़ हो चली जाति-व्यवस्था का स्वरूप पूरे ग्राम समुदाय के सेवक 'निम्न' जातियों और उन्हीं में शामिल दस्तकारों के लिए और अधिक उत्पीड़क हो गया जो वस्तु रूप या भूमिदान के रूप में अपने श्रम का भुगतान पाते थे। इसे मैक्सवेबर ने "दैवी श्रम" का नाम दिया है। इसी समय जजमानी और बलूतदारी प्रथा का भी विकास हुआ जिसे मा-ले धारा के कई लेखकों और अन्य शोधकर्ताओं ने अपने लेखों में मध्ययुगीन सामन्ती शोषण का मुख्य रूप माना है। लेकिन दस्तावेज़ी साक्ष्य बताते हैं कि जजमानी केवल परिवार के पुरोहितों पर लागू होती थी। बढई, लोहार, नाई, मोची आदि बारह पारम्परिक "बलूत" पूरे ग्राम समुदाय के लिए काम करते थे और अपना पारिश्रमिक भूमिदान या फसल के भाग के रूप में पाते थे। मध्य युग के दौरान भी बहुत सारी जनजातियों के जाति-व्यवस्था में निचले पायदान पर अस्पृश्य या अतिशूद्र के रूप में शामिल होने की प्रक्रिया मध्य भारत से लेकर गुजरात-महाराष्ट्र तक जारी रही। भोजन-संग्राही, पशुपालक और प्रारम्भिक खेती करने वाली जो जनजातियाँ इस व्यवस्था से अलग रहीं उन्हें भी ब्राह्मण नीच और अछूत मानते रहे और उन्हें 'म्लेच्छ' कहा जाता रहा। इनका एक छोटा हिस्सा ही ब्रिटिश काल में ईसाइयत के प्रभाव में आया। आज भी आदिवासी समुदाय का अलग अस्तित्व कायम है और हिन्दुत्ववादी फासिस्ट उनके "हिन्दूकरण" के लिए काफी प्रयासरत हैं और कहीं-कहीं उन्हें सीमित सफलता भी मिली है। ब्राह्मण धर्म के लिए हिन्दू धर्म संज्ञा का इस्तेमाल भी मध्ययुग में ही चलन में आया।

तेरहवीं सदी के आरम्भ से भारतीय सामन्तवाद की संरचना में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आने शुरू हुए, जिनका एक कारण इस्लाम का आगमन भी था, लेकिन इससे जाति-व्यवस्था में पद-सोपानक्रम में कुछ जातियों के ऊपर-नीचे होने और कुछ नयी जातियों-उपजातियों के अस्तित्व में आने के अतिरिक्त कोई मूलभूत अन्तर नहीं आया। इस्लाम द्वारा बहुदेववाद और मूर्तिपूजा

की वर्जना तथा मुक्त व्यक्ति और दास तथा स्त्री-पुरुष के अन्तर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अन्तर की अस्वीकृति के बावजूद, जाति-व्यवस्था इस्लामी शासकों को ग्राम समुदायों से राजस्व वसूलने और नगरों से उजरत रूपी लागत को कम रखने में विशेष सहायक प्रतीत हुई। इसलिए युद्धों और विद्रोहों के दमन में मन्दिरों के ध्वंस या हिन्दू आबादी के दमन के अतिरिक्त उन्होंने आबादी के धर्मान्तरण की कोई कोशिश नहीं की, जाति-व्यवस्था में निहित दमन के प्रति उदासीन रहे, 'उच्च' जाति के हिन्दुओं को प्रशासन में अहम स्थान दिये और मातहत ही स्वीकारने वाले हिन्दू राजाओं के प्रति मैत्री भाव रखा। नये शासकों के साथ दस्तकारी की व्यापक नयी तकनोलॉजी आयी, नये व्यवसायों के चलते दस्तकार आबादी का काफी विस्तार हुआ और भारतीय इतिहास की तीसरी "नगरीय क्रान्ति" की शुरुआत हुई। शुरू में नये व्यवसायों व निर्माण कार्यों के लिए बड़े पैमाने पर दासों का व्यापार भी हुआ। 13वीं-14वीं शताब्दियों में दास श्रम नगरीय श्रम का महत्वपूर्ण घटक था। इस्लाम स्वीकार करने के बाद इन दासों को कोई भी हुनर सिखाकर किसी भी काम में लगाया जा सकता था। कालान्तर में दासता से मुक्त होकर ये लोग शहरी दस्तकार और अनेक मेहनतकश समुदायों के प्रमुख बन गये। कुछ स्वतन्त्र लोगों ने भी इस्लाम स्वीकार किया और हिन्दू धर्म की 'निम्न' जातियों के उन लोगों ने भी धर्मान्तरण किया जो अपनी हीन स्थिति से उबरकर ऐसे पेशे अपनाना चाहते थे जो पहले वे नहीं कर सकते थे। इस तरह मुस्लिम आबादी में भी काफी बढ़ोत्तरी हुई। पर धर्मान्तरित आबादी अपने साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव लेकर आयी। बुनकरों, कसाइयों, हज्जामों आदि में अन्तःविवाह की प्रथा चलन में थी। मुसलमानों में भी 'नीची' हिन्दू जातियों के समकक्ष 'कमीन' समुदाय विकसित हुए। फिर भी मुस्लिम आबादी का कुछ भाग जातिगत संरचना से बाहर रहा और जो इससे प्रभावित थे, उनके लिए भी व्यवसाय परिवर्तन या अन्तःविवाह नियम का उल्लंघन सम्भव था। कालान्तर में यह आबादी जब पूरे देश के गाँवों-शहरों में फैली तो "कमीन" समुदाय के मुस्लिम दस्तकारों और मजदूरों को सवर्ण हिन्दू समाज अछूतों के ही समकक्ष देखता था और उनकी आर्थिक स्थिति भी वैसी ही हो गयी। आगे चलकर, ब्रिटिश शासन में भी ज़मींदारियाँ और ऊँची नौकरियाँ शेख-सैयद-पठानों को ही मिलीं। व्यापक मुस्लिम आबादी की स्थिति बद से बदतर होती गयी और आज़ाद भारत में भी आज तक "कमीन" मुसलमानों की स्थिति कम्बोवेश दलितों के ही समकक्ष है।

पीछे, अपनी चर्चा के काल पर वापस लौटें। सापेक्षतः जातिविहीन मुस्लिम आबादी की उपस्थिति से हिन्दू जाति-व्यवस्था की ताकत पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा। फ़र्क बस इतना पड़ा कि व्यवसायों के विस्तार से कुछ जातियाँ नयी

उपजातियों में विखण्डित हो गयीं और अन्तःविवाह को अपनाकर स्थायी बन गयीं। कुछ जातियों के ऊपर चढ़ने के साथ 'संस्कृतीकरण' की प्रक्रिया भी घटित हुई। जैसे, जाट 8वीं सदी में चाण्डालों के समकक्ष पशुपालक कबीला थे, 11वीं सदी तक उनकी स्थिति शूद्र की हो गयी और 17वीं सदी तक वे खुदकाशत खेती करने वाले वैश्य श्रेणी के श्रेष्ठ किसान बन चुके थे। सत्रहवीं सदी के जाट विद्रोहों के बाद कुछ जाट, ज़मींदारों और राजपूतों की सामाजिक स्थिति हासिल करने की कोशिश करने लगे। लोक एकेश्वरवादी आन्दोलनों (निर्गुण भक्ति आन्दोलन, जिसकी चर्चा आगे 'निम्न' जातियों के आन्दोलनों के सन्दर्भ में आयेगी) का भी एक प्रभाव यह हुआ कि कुछ जातियाँ जाति-व्यवस्था के दायरे से बाहर जाकर जब वापस लौटीं तो उच्चतर श्रेणी में लौटीं। कुल मिलाकर, पूरे मध्यकाल के दौरान, गतिशीलता और प्रतिस्पर्धा के कुछ तत्वों की मौजूदगी के बावजूद, जाति-व्यवस्था का ढाँचा लगभग अक्षुण्ण बना रहा, श्रम-प्रक्रिया के स्वरूप को वही निर्धारित करती रही।

लेकिन यहीं पर हम परवर्ती मध्यकाल में आये कुछ ऐसे बदलावों की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे जो उपनिवेशीकरण न हो पाने की स्थिति में पूँजीवादी विकास की ऐसी सम्भावनाओं के द्वार खोल सकते थे, जो जाति-व्यवस्था को भी विघटन की दिशा में धकेल सकती थीं। इस मुद्दे की प्रायः या तो अनदेखी की गयी है या फिर अधूरी-असन्तुलित व्याख्याएँ की गयी हैं। अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच आज इस स्थापना पर आम सहमति है कि एक सापेक्षतः अलग-थलग इकाई होने के बावजूद भारतीय गाँवों के जनसमुदाय में श्रेणी-विभाजन और स्तर-विन्यासीकरण मार्क्स की सोच से बहुत अधिक था और वर्ग-विभेद जनित टकरावों की आन्तरिक गति मौजूद थी। व्यक्तिगत अधीनस्थता सामूहिक अधीनस्थता के साथ विविध रूपों में जुड़ी हुई थी। यह सही है कि लगान और राजस्व के एकीभूत हो जाने के कारण राज्य ही भू-स्वामी था, लेकिन गाँवों का अतिरिक्त उत्पादन समग्रतः राज्य (या उसके सुपुर्ददारों) के हाथों में नहीं जाता था, बल्कि वंशानुगत रूप से उसमें हिस्सा बाँटने वाला एक समूचा वर्ग मौजूद था जिसे मुगलकाल में ज़मींदार कहते थे। राजस्व वसूलने वाले सुपुर्ददार बड़े लोगों ने भी खुदकाशत और मीरासदार के तौर पर अपनी ज़मीन पर भाड़े की खेती करानी शुरू कर दी थी। ऐसी व्यक्तिगत अधीनस्थता का मुख्य कारण जाति-व्यवस्था ही थी जिसने ग्रामीण मजदूरों का एक विशाल वर्ग संघटित किया था। किसान ज़मींदारों को खेतों का मालिक समझते थे और ज़मींदार उन्हें खेतों से बेदखल भी कर सकते थे। ज़मींदारों, मीरासदारों और खुदकाशतों के अधिकार में स्पष्टतः निजी भू-स्वामित्व के तत्व मौजूद थे। यह कुछ-कुछ उस सामन्ती भू-स्वामित्व जैसा ही था जो 'फीफ़' और 'मेनर'

प्रणालियों के लोप के उपरान्त यूरोप में पैदा हुआ था। यह स्वाभाविक ही है कि मुगल साम्राज्य का पतन मूलतः कृषि संकट के कारण हुआ। सजातीय बड़े किसानों और मीरासदारों की सहायता से प्रायः ज़मींदारों ने साम्राज्य की केन्द्रीभूत निरंकुश सत्ता के विरुद्ध किसान विद्रोहों का नेतृत्व किया और उसके पतन के बाद किसानों पर अपने अधिकार को व्यापक और सुदृढ़ बना लिया। एशियाई उत्पादन-प्रणाली और निश्चल ग्राम समुदायों के बारे में स्वयं मार्क्स की धारणाएँ भी परिवर्तनशील रहीं। उन्होंने बाद में माना था कि ग्राम समुदाय एक निश्चल और गतिहीन प्रणाली के रूप में शायद ही कभी अस्तित्व में रहे हों। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में भी सामुदायिक कृषि व्यवस्था का व्यक्तिगत कृषि व्यवस्था में रूपान्तरण गति पकड़ चुका था।

प्राक्-औपनिवेशिक भारत में मुद्रा के रूप में लगान भुगतान, ज़मींदारी के अधिकार का विक्रेय हो जाना, वाणिज्य, बैंकिंग, बीमा (धन-निक्षेप, हुण्डियों और विनिमय पत्रों के व्यापक उपयोग) और सुदूर बाज़ारों के लिए उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन करने वाले शहरी केन्द्रों का पर्याप्त विकास हो चुका था। फिर भी मुख्यतः ग्राम समुदायों के अतिरिक्त उत्पादन का ही अधिकांश उत्पादन सामग्रियों में रूपान्तरित हो पाना तथा नगर और वाणिज्य का राज्य द्वारा लागू खेती के शोषण की प्रणाली पर निर्भर बने होना पूँजीवादी विकास की राह की एक बाधा थी। साथ ही, तीव्र और व्यापक वाणिज्यिक गतिविधियों को अपने आप में पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली नहीं माना जा सकता। भारत में विकसित व्यापारिक पूँजी दादनी प्रथा के ज़रिए कारीगरों पर अपना नियन्त्रण रखती थी। यानी व्यापारी ही कारीगरों को ज़रूरत लायक उत्पादन के लिए कर्ज़ और कच्चा माल देते थे। इस नियन्त्रण और बेहद कम मज़दूरी के चलते ऐसी नयी तकनीक और औज़ार अपनाने की सम्भावना कम हो जाती थी जो कम श्रम से अधिक काम सम्भव बना सके। **इरफ़ान हबीब** इसे मध्यकालीन भारत में पूँजीवादी विकास की राह की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। लेकिन आश्चर्य है कि उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया है कि भारत में दादनी प्रथा से अलग भी उत्पादन के संगठन मौजूद थे जहाँ स्वतन्त्र उस्ताद दस्तकारों की कार्यशालाओं में श्रम का बँटवारा मौजूद था (जो पूँजीवाद के अंकुरण की पूर्वशर्त है)। अकबर के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक बंगाल, बिहार, अवध, सूरत और कश्मीर में ऐसे समृद्ध उस्ताद बुनकरों, प्रिण्टरों, बढ़इयों की स्वतन्त्र कार्यशालाओं के प्रभूत प्रमाण मिले हैं जहाँ कई-कई सौ अप्रेण्टिस और भाड़े के मज़दूर काम करते थे। **सतीशचन्द्र** के अनुसार, प्राक्-औपनिवेशिक भारत में गुजरात, कोरोमण्डल और मलाबार के समुद्रतटीय क्षेत्र पूँजीवादी विकास की प्रारम्भिक मंज़िल में प्रविष्ट हो चुके थे। तटवर्ती क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों के अधिकार के बाद विदेश व्यापार और आन्तरिक

व्यापार का ताना-बाना छिन्न-भिन्न होने से ये उद्यम नष्ट हो गये। इतिहासकार **पाव्लोव** ने इस बात पर भी उचित ही आश्चर्य व्यक्त किया है कि आबादी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली देहाती दस्तकारियों के भीतर निहित पूँजीवादी विकास की सम्भावनाओं की ओर **इरफ़ान हबीब** ने ध्यान ही नहीं दिया है। यह प्रस्थापना समाज की आन्तरिक गतिकी का निषेध करने वाली प्रस्थापना है कि यदि उपनिवेशीकरण नहीं होता तो भारत में पूँजीवादी विकास होता ही नहीं। पूँजीवाद विश्व इतिहास की पहली सार्विक और सर्वसमावेशी प्रवृत्ति है, जो हर प्रकार की प्राक्-पूँजीवादी संरचना को येन-केन-प्रकारेण तोड़ डालने या अधीन कर लेने की क्षमता रखती है। राह चाहे जो हो, गति चाहे जितनी मन्थर हो, एक बार किसी समाज में जब माल-उत्पादन की और स्वयं श्रम शक्ति के माल बन जाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तथा मौद्रिक सम्बन्धों और बाज़ार का विकास तेज़ हो जाता है तो यह प्रवृत्ति प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के सारे बन्धनों को तोड़ते हुए पूरे समाज को अपने आगोश में ले ही लेती है। यदि भारत का उपनिवेशीकरण नहीं हुआ होता तो भारत में भी दस्तकारी से मैन्यूफैक्चरिंग की ओर जो यात्रा शुरू हो रही थी, वह आगे बढ़ती, निरन्तर विकसित उत्पादक शक्तियाँ प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़ देतीं, पूँजी समाज के पोर-पोर में घुस जाती, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के तथा मूलाधार और अधिरचना के टकराव वर्ग संघर्षों के रूप में फूट पड़ते, अन्ततः नया मूलाधार स्थापित होता और पुरानी बिखरती सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचना पर नयी अधिरचना हावी होती चली जाती। इस प्रक्रिया में जाति-व्यवस्था का भी नैसर्गिक ढंग से क्षरण-विघटन हो जाता। उपनिवेशवाद ने इस प्रक्रिया को नष्ट कर दिया और अर्द्धसामन्ती-औपनिवेशिक संरचना में जाति-व्यवस्था थोड़े बदलावों के साथ मूलाधार और अधिरचना में बनी रही।

लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन की अन्तर्वस्तु : एक

पुनर्मूल्यांकन

यहीं पर, आवश्यकता इस बात की है कि हम लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन (निर्गुण भक्ति आन्दोलन) का एक ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन करें। इस आन्दोलन के नेता सत्ताश्रित और जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विशेषाधिकार-प्राप्त बौद्धिक समुदाय के सदस्य नहीं थे। वे छीपी, जुलाहा, चमार, धुनिया, नाई जैसी किसी 'निम्न' जाति के या छोटे किसानों की किसी 'निम्न' जाति के सदस्य थे। वर्ग दृष्टि से उनका सामाजिक आधार भूमिहीन खेत मजदूरों, दस्तकारों और छोटे व्यापारियों में था। इरफ़ान हबीब की शिकायत है कि इस आन्दोलन के विविध

धार्मिक पन्थों के अनुयायियों ने स्वयं को कभी किसान नहीं समझा और किसानों के किसी भी हिस्से की आर्थिक या सामाजिक माँगों को नहीं उठाया। एक जाति के किसान दूसरी जाति के किसानों से जुड़ नहीं सके और किसानों की वर्ग-चेतना के विकास में बाधा पहुँची। इस सन्दर्भ में, पहली बात तो यह गौरतलब है कि यह आन्दोलन केवल किसानों का आन्दोलन नहीं था, इसकी विविध उपधाराएँ थीं। इनमें तमाम दस्तकार और कामगार शामिल थे जो सबसे नीचे की जातियों से आते थे। इनका साझा मुद्दा बनता था उस जाति-व्यवस्था को आधार देने वाले धार्मिक विधि-विधानों पर चोट करना जो उत्पादन-सम्बन्धों को भी निर्धारित करती थी और सामाजिक उत्पीड़न का भी बर्बर रूप थी। यदि यूरोपीय धर्मसुधार आन्दोलन को भी देखें तो उसमें भी लूथर की धारा उदारवादी धारा थी, मुंजर की उग्र-परिवर्तनवादी धारा ने किसानों की माँगों को भी उठाया और काल्विन की धारा सर्वाधिक आमूल परिवर्तनवादी उदीयमान बुर्जुआ वर्ग की माँगों का प्रतिनिधित्व करती थी। लूथर ने आरम्भिक बुर्जुआ दृष्टिकोण प्रकट करने के बाद आरम्भिक बुर्जुआ मानवतावाद और मुक्त व्यापार के सिद्धान्त की आलोचना की और 1525 के महान किसान युद्ध में सत्ताधारियों का पक्ष लिया। धार्मिक किसान नेता मुंजर आमूलगामी किसान-प्लेबियन पक्ष का प्रतिनिधि था और उसका राजनीतिक कार्यक्रम समतावादी यूटोपियाई कम्युनिज़्म के काफी निकट था। यह सही है कि केन्द्रीभूत सत्ता के विरुद्ध मराठों के विद्रोह के परिणामस्वरूप स्थापित मराठा राज्य कोई 'किसान राज्य' नहीं था। उसने मराठा ज़मींदारों की सत्ता को जन्म दिया, मीरास पट्टेदारियों का विस्तार हुआ और कुनबियों और निचली जातियों की स्थिति प्रायः वही बनी रही। समता और जनवाद के मामले में, जाट किसानों के विद्रोह को स्वर देने वाले सिख धर्म का चरित्र सर्वाधिक रैडिकल था, पर उसके परिणामस्वरूप कायम सिख राज्य भी किसी किस्म का 'किसानी राज्य' नहीं था और आगे चलकर सिख धर्म भी ऊँच-नीच जातियों के भेद से अछूता नहीं रहा। लेकिन हमें याद रखना होगा कि यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन का इस्तेमाल भी आगे चलकर कई रियासतों के राजकुमारों ने तथा इंग्लैण्ड, स्कैण्डेनेविया और (राजा की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध) फ्रांस के सामन्ती कुलीनों ने किया। जैसे मध्य सोलहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप में 'काउण्टर रिफॉर्मेशन' ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रसार को रोक दिया, उसी तरह भारत में भी सुधरी हुई जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणों की सर्वोच्चता और मूर्ति पूजा के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए हमें तुलसीदास की सगुण भक्ति धारा दीखती है। हमारा उद्देश्य यहाँ यूरोपीय धर्म सुधार आन्दोलन में लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन का प्रतिरूप ढूँढ़ना नहीं है। सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं में भिन्नता के हिसाब से दोनों में भिन्नताएँ थीं। हमारा तात्पर्य केवल

यह स्पष्ट करना है कि प्राक्-औपनिवेशिक भारत में वर्ग संघर्ष की अपनी एक स्वतन्त्र आर्थिक गतिकी मौजूद थी, जिसमें (उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में) ऐसे पूँजीवादी विकास की सम्भावनाएँ मौजूद थीं जो जाति-व्यवस्था को ध्वस्त कर सकती थीं क्योंकि तत्कालीन भारत में जाति समूहों और वर्गों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग अतिच्छादित (overlap) करते थे। सम्भव है कि उपनिवेशीकरण न होने की स्थिति में भारत में अठारहवीं शताब्दी के गतिरोध के भीतर से मानवतावाद के मूल्यों के वाहक किसी सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का जन्म होता। या फिर रूस की तरह, मन्थर गति से बुर्जुआ विकास के साथ-साथ मानववाद, राष्ट्रवाद और क्रान्तिकारी जनवाद के मूल्य विकसित होते। स्थिति चाहे जो भी होती, जाति-व्यवस्था के क्षरण-विघटन की परिणति तो अवश्यम्भावी होती। यह सवाल केवल लोक एकेश्वरवादी आन्दोलन के पुनर्मूल्यांकन का ही नहीं है, इसी आलोक में इस तथ्य को ठीक से समझा जा सकता है कि उपनिवेशीकरण ने किस तरह भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति की हत्या कर दी और जाति-व्यवस्था को दीर्घजीवी होने के लिए नयी ताकत दी।

औपनिवेशिक दौर में जाति-व्यवस्था

यूरोपीय कम्पनियाँ जब भारत में आयीं उस समय वे भारत में उत्पादित माल यूरोप के बाजारों में ले जाकर बेचती थीं। जल्दी ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने युद्धों में और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में अन्य यूरोपीय कम्पनियों को पीछे धकेल दिया और भारतीय सामन्तों की फूट-कलह और कमजोरी का लाभ उठाकर देश के अलग-अलग भूभागों को कब्जे में लेने की भी शुरुआत कर दी। प्लासी और फिर बक्सर की लड़ाइयों के बाद वह देश की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गयी। राजाओं-महाराजाओं, सेठों-व्यापारियों से अकूत सम्पदा लूटकर ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के लिए आद्य-पूँजी संचय का अम्बार जुटाया जाने लगा। कारीगरों और दस्तकारों के साथ स्वेच्छाचारिता लूट की हद तक पहुँच गयी। फिर वह दौर आया जब ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति आगे कदम बढ़ा चुकी थी। बड़े पैमाने का कारखाना-उत्पादन भारतीय दस्तकारी को अब प्रतियोगिता में पछाड़ सकता था। ब्रिटिश मालों के भारत में आयात के गति पकड़ते ही भारतीय दस्तकारी तबाह हो गयी। ढाका और सूरत जैसे शहर वीरान हो गये। बड़े पैमाने पर ग्रामीणीकरण का सिलसिला शुरू हुआ और कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता चला गया। कृषि पहले से ही बर्बाद हो रही थी क्योंकि कम्पनी की सारी लूट की भरपाई सामन्त बेहिसाब लगान वसूली से ही कर रहे थे। कम्पनी ने भी

अपने शासित क्षेत्रों से भू-राजस्व की बेलगाम उगाही शुरू की। जल्दी ही उसे समझ में आ गया कि इस विशाल कृषि प्रधान समाज से भू-राजस्व की उगाही लूट का एक अकूत स्रोत है, अतः इसकी प्रणाली को व्यवस्थित करना ज़रूरी है। ज़मींदारी, रैयतवारी और महालवारी व्यवस्थाओं के द्वारा इस काम को अंजाम दिया गया। इन व्यवस्थाओं ने ग्राम समुदायों के पूरे ढाँचे को तबाह करके एक नयी, अर्द्ध-सामन्ती वर्ग-संरचना की स्थापना की, लेकिन इस बदलाव ने जाति-व्यवस्था के बुनियादी ढाँचे पर नाममात्र का ही असर डाला। ज़मींदारी व्यवस्था ने ज़मीन को ज़मींदारों की निजी सम्पत्ति बना दिया। ये नये सामन्त 'ऊँची' जातियों के ही लोग हुआ करते थे जिनका काम काशतकार किसानों से वसूले गये लगान का 9/10 भाग सरकारी ख़जाने में जमा करना होता था। ज़मींदार काशतकारों को निचोड़ने में किसी नियम-कानून का ख़याल नहीं करते थे। काशतकार किसान ज़्यादातर मध्य जातियों के लोग थे। सबसे नीचे भूमिहीन दलित जातियों के लोग थे जो ज़मींदार की खुदकाशत ज़मीन पर बेगारी करते थे, उनकी चाकरी करते थे और बड़े काशतकारों की ज़मीन पर मज़दूरी भी करते थे। इस तरह जो जातिगत सामाजिक ढाँचा था, वह यथावत बना रहा। औपनिवेशिक अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था ने ग्राम समुदायों के आर्थिक ताने-बाने को तो नष्ट कर दिया लेकिन जाति-व्यवस्था बनी रही, नयी व्यवस्था के साथ उसका तन्तुबद्धीकरण (articulation) हो गया। ज़मींदार प्रायः भू-लगान वसूलने का अपना अधिकार पट्टेदारों को और फिर वे उप-पट्टेदारों को बेच देते थे। ये पट्टेदार अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए काशतकारों पर ज़्यादा से ज़्यादा दबाव बनाते थे और दलितों पर ज़्यादा से ज़्यादा अत्याचार करके बेगारी करवाते थे। यह पट्टेदारी भी वंशानुगत हुआ करती थी। कभी-कभी जब किसानों की कंगाली और अपनी ऐयाशी के कारण ज़मींदार भू-राजस्व की अदायगी नहीं कर पाते थे, तो उनकी ज़मींदारियाँ नीलाम होती थीं जिन्हें कम्पनी के भारतीय कारिन्दे, अदालतों के कर्मचारी और बड़े महाजन ख़रीद लेते थे और नये सामन्तों की क़तार में शामिल हो जाते थे। बंगाल-बिहार में तो भू-सम्पत्ति का अधिकांश तेज़ी से ऐसे शहरी धनिकों के हाथों में चला गया जिनके पास अतिरिक्त पूँजी थी और वे उसे तत्काल ज़मीन में लगा देते थे। बताने की आवश्यकता नहीं कि तबाह होते किसान अक्सर विद्रोह करते रहते थे जिन्हें बर्बरतापूर्वक कुचल दिया जाता था।

रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत ब्रिटिश शासकों ने ज़मींदारों को ही नहीं, बल्कि मीरासदारों (यानी ग्राम समुदायों के उन सदस्यों को, जो दाय योग्य हिस्सों के मालिक थे) और किसानों की उन सभी श्रेणियों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की जो राज्य को सीधे भू-राजस्व अदा करते थे।

कभी-कभी तो पूरा ही गाँव एक मीरासदार के मातहत आ जाता था और उसकी स्थिति एक सामन्त की हो जाती थी। धीरे-धीरे सभी मीरासदार छोटे भू-स्वामी बन गये जिनकी ज़मीनों को उनकी सम्पत्ति माना जाने लगा। बाहर से आये किसान, दास और अछूत दस्तकार बहुत सारे मामले में अधिकार-रहित काश्तकार या बटाईदार बन गये जिनकी काशतों पर लगान कभी भी बढ़ाया जा सकता था और जिन्हें कभी भी बेदखल किया जा सकता था। भूमि को राज्य की सम्पत्ति मानते हुए अंग्रेज़ अधिकारी रैयतों को अपना ऐसा स्थायी काश्तकार मानने लगे जिनसे लगान की मनमानी रक़म माँगी जा सकती थी और जिन पर मनमाना राजस्व थोपा जा सकता था। रैयतवारी प्रणाली के अन्तर्गत पूर्ववर्ती ग्राम समुदायों के अधिकार वाले चरागाहों और परती ज़मीन को राज्य ने ज़ब्त कर लिया, जिसका सबसे अधिक प्रभाव दलित भूमिहीनों पर पड़ा जो अब न तो अपने पशु चरा सकते थे न जलावन की लकड़ी पा सकते थे। नतीजतन भू-स्वामियों पर उनकी निर्भरता और अधिक बढ़ गयी।

मौजावार या मालगुज़ारी प्रणाली के अन्तर्गत समग्र रूप से ग्राम समुदाय को एक वित्तीय इकाई या भू-स्वामी माना जाता था। लेकिन अलग-अलग खेत पर कर लगाया जाता था और एक भी काश्तकार का राजस्व बकाया रह जाने पर पूरे गाँव की ज़मीन नीलाम कर दी जाती थी जिन्हें सामान्यतः अदालती और माल विभाग के अधिकारी ख़रीद लेते थे और इस तरह ज़मींदार की हैसियत प्राप्त कर लेते थे।

1843 में सिन्ध पर कब्ज़े के बाद ऊपरी सिन्ध में रैयतवारी प्रणाली लागू की गयी जबकि निचले सिन्ध में ज़मींदारों को वैध भू-स्वामियों के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। 1845-48 के दौरान पंजाब की विजय के बाद, अंग्रेज़ों ने शुरुआती दौर में ग्राम समुदायों की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं किया, हालाँकि सामुदायिक भूमि पर धनी काश्तकारों को तथाकथित मालिकाना हक़ (यानी अपनी काशतों पर खेती करने का स्थायी अधिकार, बशर्ते कि वे लगान देते रहें) दे दिया गया। पूरे पंजाब में जिन्स-रूप लगान को अनिवार्यतः नक़दी बना देने से किसान अपनी पैदावार बाज़ार में बेचने को मजबूर हो गये, जिससे खाद्यान्न कीमतों में गिरावट आयी, किसानों की दशा बिगड़ती गयी और महाजनों का प्रभाव बढ़ता गया। सिख सामन्त, जिनके मालिकाना हक़ मज़बूत हुए थे, वे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के लिए भरोसेमन्द सामाजिक आधार बन गये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में नयी पैमाइश और लगान बन्दोबस्ती के द्वारा सामन्ती भू-स्वामियों के विभिन्न समूहों के मालिकाना अधिकारों को पूरी तरह निजी स्वामित्व बना दिया गया। भू-राजस्व प्रणालियों में सुधार किया गया। 1857 के विद्रोह प्रभावित क्षेत्रों में ज़्यादातर गाँव ताल्लुकदारों को लौटा दिये गये।

साथ ही ग्राम समुदायों के उच्च संस्तरों के अन्य लोगों को मालगुजारों और भू-स्वामियों के बीच उपस्वामियों-बिचौलियों का दर्जा प्रदान किया गया। रैयतवारी बन्दोबस्त के क्षेत्रों में सामन्ती भू-स्वामित्व के अतिरिक्त छोटे पैमाने के किसानों के स्वामित्व को भी सुव्यवस्थित किया गया। पंजाब में भूतपूर्व ग्रामीण समुदायों के उच्च संस्तरों के हितों पर ध्यान दिया गया। जागीरदारों और इनामदारों की ज़मीनों भी कम की गयीं और ताल्लुकदारों को राज्य पोषित पेंशनर बना दिया गया। सिन्ध में सशर्त अनुदानों के मालिक जागीरदारों को बड़ी ज़मीनों पर साम्प्रदायिक अधिकार तो दिये गये लेकिन लगान वसूली के काम से उन्हें अलग कर दिया गया। बम्बई प्रेसिडेंसी में इनामों और जागीरों की संख्या तथा इनामदारों और जागीरदारों की भू-सम्पत्ति में कटौती की गयी। मध्य प्रान्त में भू-स्वामित्व का अधिकार पुराने सामन्ती अभिजातों के अतिरिक्त, सीधे राज्य को भू-राजस्व देने के लिए ज़िम्मेदार मालगुजारों को भी दिया गया। इन सभी कदमों के द्वारा, एक ओर ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने पुराने सामन्तों के अतिरिक्त नये सामन्तों की एक क़तार विकसित करके तथा मालिक किसानों की एक वफ़ादार आबादी पैदा करके अपने सामाजिक आधार को विस्तृत एवं सुदृढ़ बनाया, दूसरी ओर भूमि पर औपनिवेशिक सामन्ती एकाधिकार को एक सुनिश्चित रूप दिया। इसका ज़्यादातर लाभ 'ऊँची' जातियों के सामन्तों को ही मिला। एक हद तक कुछ इलाकों में मध्य जाति के किसान लाभान्वित हुए और उनमें 'संस्कृतीकरण' की प्रवृत्ति पैदा हुई। ज़्यादातर मध्य जाति के मध्यम और ग़रीब काश्तकारों और दलित जातियों के भूमिहीन मजदूरों तथा बचे-खुचे दस्तकारों का अमानवीय शोषण-उत्पीड़न बदस्तूर जारी रहा। इस तरह नये परिवर्तनों ने जाति-व्यवस्था को लगभग अप्रभावित छोड़ दिया।

भारतीय समाज के लिए उपनिवेशीकरण का सबसे बड़ा सामाजिक अभिशाप यह था कि इसने जाति-व्यवस्था की प्राचीन बुराई को तो पुनःसंस्कारित करके अपने हित में बनाये रखा, लेकिन पुराने भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। पुराने समाज के गर्भ में नैसर्गिक विकास के जो भ्रूण पल रहे थे - वे नष्ट हो गये। 'कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग-मशीनोफैक्चरिंग' की स्वाभाविक विकास-यात्रा की सम्भावनाएँ नष्ट हो गयीं। जाति-व्यवस्था औपनिवेशिक-अर्द्धसामन्ती शोषण प्रणाली के लिए भी अनुकूल थी और सामाजिक-राजनीतिक तौर पर भी जनता को बाँटने के लिए, उसकी वर्ग-चेतना को कुन्द करने के लिए कारगर हथियार थी (दूसरा कारगर हथियार साम्प्रदायिकता को उभाड़ना था)। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी चूँकि देशी पूँजीपति वर्ग मेहनतकश अवाम की पहलकदमी बढ़ने से लगातार

डरता था और अपने वर्ग हितों को लेकर शुरू से ही सजग था, इसलिए आन्दोलनों में जनशक्ति का इस्तेमाल करने के बावजूद, जाति उन्मूलन के प्रश्न पर वह कोई रैडिकल अवस्थिति कदापि नहीं ले सकता था, उल्टे जातियों के बीच के दुरावों-तनावों का इस्तेमाल करना और फिर मेल-जोल, सुधार, 'हरिजन-उत्थान' आदि की नीति अपनाना उसकी आम प्रवृत्ति थी। सामन्तों के अतिरिक्त मध्य जातियों के जो धनी काश्तकार थे (जो अपने खेतों में दलितों से मजदूरी भी करवाते थे), वे भी दलितों से दुराव रखते थे और पिछड़ी चेतना वाले मध्य जाति के मध्यम और गरीब काश्तकार भी उनसे दूरी बरतते थे। छूत-अछूत, गन्दे काम-साफ़ काम की धारणाएँ यथावत मौजूद थीं। इसके प्रचुर दस्तावेज़ी साक्ष्य मौजूद हैं कि ब्रिटिश नीति निर्धारकों की यह सुविचारित नीति थी कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था के साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की जानी चाहिए, पुराने शासक वर्गों को सहयोगी बनाने और सामाजिक उथल-पुथल से बचने के लिए यह सबसे ज़रूरी है। दूसरी बात यह कि भू-राजस्व की मनमानी उगाही औपनिवेशिक लूट का एक प्रमुख माध्यम था जो भूमि बन्दोबस्त के अर्द्ध-सामन्ती उत्पीड़न को बनाये रखने से ही सम्भव था और यही जातिगत उत्पीड़न का मुख्य आधार था।

1857 : मूल्यांकन विषयक कुछ अहम सवाल

यहीं पर 1857 के बारे में भी कुछ बातें ज़रूरी हैं। यह महाविद्रोह इतिहास के एक ऐसे सन्धि-बिन्दु पर हुआ था जब औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से पैदा होने वाले वर्ग सुनिश्चित रूप-रंग ग्रहण नहीं कर पाये थे और प्राक्-औपनिवेशिक भारत की वर्गीय संरचना पूरी तरह से नष्ट नहीं हुई थी। इस संघर्ष में राष्ट्रीय मुक्ति चेतना के कुछ बीज थे, लेकिन मुख्यतः यह पुराने भारत का प्रतिरोध संघर्ष था। कहीं-कहीं किसानों, दलितों और जनजातियों के क्षेत्रीय नायकों की भी अहम भूमिका थी, लेकिन मुख्य नेतृत्वकारी शक्ति सामन्त ही थे। संघर्ष की मुख्य ताकत विद्रोही सैनिक (जो आम किसानों के बेटे थे), किसान और उजड़े दस्तकार थे। उपनिवेशवाद उनका मुश्तरका दुश्मन था। सुनिश्चित योजना के अभाव में, पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ी गयी यह लड़ाई जीती नहीं जा सकी और अपनी नैसर्गिक भूमि पर नैसर्गिक गति से निषेध का निषेध करती हुई आगे बढ़ने वाली इतिहास की स्वाभाविक गति मर गयी। यह ऐसा नुकसान था, जिसकी भरपाई आज तक नहीं हो सकी है। पुराने भारत के सामन्ती उत्पीड़न के निकट अतीत को देखते हुए ज्योतिबा फुले यदि सन्तुलित इतिहास दृष्टि से 1857 को नहीं देख सके तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। उनका

मानना था कि विद्रोहियों की जीत पुराने पेशवाई राज्य और दलितों के बर्बर उत्पीड़न की वापसी होगी। लेकिन आज भी ज़्यादातर दलित और कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी सामन्ती नेतृत्व के मद्देनज़र 1857 के विद्रोह को प्रतिगामी चरित्र वाला मानते हैं। यह नितान्त आधिभौतिक इतिहास-दृष्टि है। यदि इस महासंग्राम में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की पराजय होती, तो भी यह सम्भव ही नहीं था कि भारत मध्यकालीन अतीत के अँधेरे में वापस लौट जाता। ब्रिटिश सत्ता की पराजय के बाद, बहुत कम सम्भव था कि भारत में एक सुदृढ़ केन्द्रीय सामन्ती सत्ता बहाल हो पाती। और यदि ऐसा होता भी तो उसके अन्तर्गत (उन्नीसवीं सदी के ज़ारकालीन रूस की तरह) पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया चल पड़ती और जाति प्रथा की जड़ों पर कुठाराघात करने वाले क्रान्तिकारी जनवादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन फूट पड़ते। मुमकिन था कि किसी केन्द्रीय सत्ता की नामौजूदगी या नाममात्र मौजूदगी की स्थिति में भारतीय समाज अलग-अलग सामन्ती अधिपतियों के शासन के अन्तर्गत आ जाता, लेकिन उस स्थिति में भी सामाजिक अन्तरविरोधों का उग्र होते जाना और पूँजीवादी विकास-प्रक्रिया का नैसर्गिक गति से आगे डग भरना लाज़िमी था (जैसा प्राक्-औपनिवेशिक भारत में हो रहा था)। यह भी एक सम्भावना है कि ब्रिटिश पराजय के बाद भी देश में औपनिवेशिक दखलन्दाज़ी समाप्त नहीं होती, पूरा देश अलग-अलग औपनिवेशिक ताकतों के प्रत्यक्ष-परोक्ष नियन्त्रण के क्षेत्रों में बँट जाता और चीन से मिलती-जुलती अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना अस्तित्व में आती। इनमें से जो भी स्थिति होती होती, वह केन्द्रीकृत औपनिवेशिक सत्ता से काफ़ी बेहतर होती। भारतीय समाज की स्वतन्त्र आन्तरिक गति नष्ट नहीं होती और देश का इतिहास कुछ और होता। 1857 ने आम जनता की जिस पहलकदमी एवं ऊर्जा को निर्बन्ध किया था, उसे किसी भी स्थिति में समाप्त नहीं किया जा सकता था और इतिहास निर्माण की सक्रिय शक्ति बनने से रोका नहीं जा सकता था।

औपनिवेशिक काल की वर्गीय संरचना, विविध राजनीतिक धाराएँ और जाति प्रश्न

ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर से शिक्षित मध्यवर्ग की जो पहली पीढ़ी पैदा हुई, उसने यूरोपीय समाज में जनवाद के आदर्शों से प्रेरित होकर हिन्दू धर्म की बुराइयों के विरुद्ध जो भी आवाज़ें उठायीं और आन्दोलन चलाये उनका दायरा शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था और शहरी ग़रीबों के प्रति उनका दृष्टिकोण दया-करुणा से आगे नहीं जाता था। वस्तुतः ब्रिटिश

सत्ता के प्रति वफ़ादार इन सुधारकों का बहुलांश स्वयं भू-स्वामी था और गाँवों के दलितों की स्थिति सुधारना तो दूर, ये अन्य भू-स्वामियों की तरह ही उनके उत्पीड़क थे। ज्योतिबा फुले की स्थिति उनसे भिन्न थी। न केवल प्रचार के स्तर पर जाति प्रथा के विरुद्ध उनका रैडिकल तेवर था, बल्कि पहली बार उन्होंने अछूतों और स्त्रियों की शिक्षा के लिए संस्थाएँ खड़ी करने का उद्यम किया। किसानों और अस्पृश्य भूमिहीनों पर 'ऊँची' जाति के लोगों और देशमुखों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों और उनके शोषण का उन्होंने लगातार विरोध किया। लेकिन इस रैडिकल समाज-सुधारक ने भी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की निर्मात्री और पोषक के रूप में औपनिवेशिक सत्ता को नहीं देखा, बल्कि उसे शूद्रों-अछूतों की हितैषी के रूप में देखा और कभी उसका विरोध नहीं किया। फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज बाद में एक सामन्त शाहूजी महाराज के नेतृत्व में आ गया जिनका मुख्य लक्ष्य क्षत्रिय के रूप में मान्यता पाना था। पर इसका एक छोटा-सा हिस्सा कुछ दिनों तक किसानों और मजदूरों को संगठित करने में लगा रहा। 1890 में फुले के एक अनुयायी लोखण्डे ने 'बॉम्बे मिल हैण्ड्स एसोसिएशन' नामक मजदूरों का एक संगठन बनाया था, हालाँकि यह मजदूरों की दशा में सुधार हेतु बनाया गया अनौपचारिक (विधान-विहीन) क्विस्म का संगठन था। लोखण्डे सरकार द्वारा बनाये गये 'फैक्ट्री लेबर कमीशन' के भी सदस्य थे।

शहरी दलित जाति के लोग ईसाई अंग्रेज़ साहबों के रोज़मर्रा के व्यवहार में छुआछूत न मानने से प्रभावित होते थे, हालाँकि नौकरी उन्हें चौकीदार, माली, खानसामा, नौकर की ही मिलती थी। मिशनरी स्कूलों में उनके बच्चों के साथ भेदभाव नहीं होता था। सरकारी स्कूलों में भी वे जाते थे, पर वहाँ उन्हें बहुत अपमान झेलना पड़ता था। इन स्कूलों से पढ़कर पढ़े-लिखे दलितों की भी (विशेषकर महाराष्ट्र में) एक आबादी तैयार हुई जिसे बाबूगिरी तक की नौकरियाँ मिल जाती थीं। फिर भी, शहरों में नीचे दर्जे की नौकरियाँ प्रायः उन्हें ही मिलती थीं। सफ़ाई का काम सिर्फ़ उनका था। फैक्ट्रियों में भी उन्हें सबसे नीचे दर्जे का काम मिलता था और गैर-दलित जातियों के भेदभाव का भी सामना करना पड़ता था। पूरे देश में सिर्फ़ एक महार रेजिमेण्ट बनायी गयी, शेष सारी रेजिमेण्टों में दलितों को साफ़-सफ़ाई आदि के असैनिक काम ही ज़्यादातर मिलते थे। ये जो अतिसीमित बदलाव थे, इनका प्रभाव भी बमुश्किल तमाम दो प्रतिशत दलित आबादी पर ही था। जो बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में रहती थी वह सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्ववत् शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी। कुछ बड़े काश्तकारों को छोड़कर मध्य या पिछड़ी जातियों के काश्तकारों-भूमिहीनों के लिए भी सामन्ती शोषण के साथ जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न की स्थिति

बरकरार थी, हालाँकि उनकी स्थिति दलितों से भिन्न थी और वे भी (कुछ अति पिछड़ी जातियों को छोड़कर) दलितों के प्रति दूरी और घृणा का भाव रखते थे। औपनिवेशिक भारत में एक छोटा-सा जो दलित मध्य वर्ग पैदा हुआ था, उसी की आकांक्षाओं को मुखर करने वाले दलित राजनीतिक नेतृत्व ने पूरे दलित समुदाय के नेतृत्व की दावेदारी प्रस्तुत की और जातिगत उत्पीड़न को मुद्दा बनाकर उसका समर्थन भी हासिल किया, लेकिन उसने जाति-व्यवस्था की बुनियाद भूमि-व्यवस्था के विरुद्ध न तो कोई आर्थिक-राजनीतिक कार्यक्रम दिया, न ही उस भूमि-व्यवस्था के पोषक उपनिवेशवाद को अपना निशाना बनाया। इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर और पेरियार की चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने क़ानून-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था और प्रशासन का जो एकरूप देशव्यापी तन्त्र स्थापित किया, उसका दार्शनिक आधार बुर्जुआ तर्कसंगति थी, लेकिन संकीर्ण औपनिवेशिक हितों के चलते वह हज़ारों तरीक़े से बाधित, नियन्त्रित और विरूपित की जाती थी। प्रशासन और क़ानून का आधार अब जाति-व्यवस्था और ईश्वरीय स्वीकृति नहीं थी, पर सामाजिक जीवन में जाति-व्यवस्था को छेड़ा नहीं गया (भूमि व्यवस्था द्वारा उसे नया आर्थिक आधार देने की चर्चा तो ऊपर की ही जा चुकी है) क्योंकि इससे पैदा होने वाली सामाजिक उथल-पुथल औपनिवेशिक सत्ता की स्थिरता के लिए ख़तरा हो सकती थी। उपनिवेशवादियों ने पूर्ववर्ती शासकों के बीच से ही अपने सामाजिक अवलम्ब विकसित किये। नौकरशाही में पुराने भू-स्वामियों के वंशज सवर्ण जातियों के नये शहरी मध्यवर्ग को व्यवस्थित किया गया। स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों में भी उन्हीं का वर्चस्व था। आगे चलकर इसी मध्य वर्ग के एक हिस्से के भीतर यदि राष्ट्रवादी भावनाओं-विचारों का अंकुरण हुआ तो वह शासक वर्ग की इच्छा के विपरीत समाज-विकास की वस्तुगत गति में निहित अन्तरविरोधों के चलते हुआ। हालाँकि ये राष्ट्रवादी विचार भी या तो मरियल सुधारवादी विचार थे या फिर उनमें पुनरुत्थानवाद और परम्परावाद के तत्त्व थे। जुझारू जनवादी विचारों की जगह इनके विचार या तो सुधारवादी थे या फिर घोर रूढ़िवादी। समाज-विकास जब कुछ और आगे बढ़ा तो मध्यवर्ग की क्रान्तिकारी राष्ट्रवादी धारा का भी विकास हुआ और एक हिस्सा वैज्ञानिक समाजवाद को अपनाकर मज़दूर वर्ग से भी जुड़ा। लेकिन इन धाराओं के शरीर पर भी औपनिवेशिक सामाजिक संरचना से पैदा होने के इतने जन्म-चिन्ह तो थे ही कि इनका सैद्धान्तिक आधार अत्यन्त कमज़ोर था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेलवे और कपड़ा एवं जूट मिलों के निर्माण में ब्रिटिश पूँजी निवेश शुरू हुआ। इसका मूल उद्देश्य भारत के कच्चे माल से भारत में ही कम लागत पर माल तैयार करके विश्व-बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में

अपनी बढ़त बनाये रखना था। दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र उन क्षेत्रों में सिंचाई नहरों का निर्माण करना था जहाँ निर्यात के लिए फसलें (जैसे सिन्ध और पंजाब में कपास और गेहूँ की खेती) उगायी जाती थीं। तीसरा निवेश का क्षेत्र खनन उद्योग और चौथा चाय, कॉफी और रबर के बागान बने। अगला दौर इस्पात के कारखानों, अन्य अवरचनागत उद्योगों और उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन करने वाले कारखानों का था। इन कारखानों के लिए सर्वहारा आबादी की आपूर्ति यूरोप की तरह गाँवों में पूँजीवादी विकास के चलते उजड़ने वाली आबादी से नहीं हुई। उजड़ी हुई दस्तकारियों के तबाह दस्तकारों, सामन्ती उत्पीड़न से त्रस्त गाँवों की दलित आबादी, दिवालिया छोटे किसानों तथा औपनिवेशिक लूट से लगातार जारी रहने वाले अकालों व भुखमरी के शिकार लोगों से ब्रिटिश उद्योगों को यूरोप के मुकाबले कई गुनी सस्ती श्रम-शक्ति मिलती रही। गाँवों की जातिगत सामाजिक व्यवस्था पर इससे कोई असर नहीं पड़ा। इन उद्योगों के साथ ही देशी बिचौलियों, व्यापारियों, महाजनों और कमीशन एजेंटों ने भी काफी धन संचय कर लिया। प्रायः ये मारवाड़ी, पारसी, गुजराती और जैन व्यापारी थे। फिर इन दलाल पूँजीपतियों ने ब्रिटिश उद्योगों के सहायक उद्यमों और वित्तीय क्षेत्र में पूँजी लगानी शुरू की। इनका चरित्र क्रमशः बदलने लगा। विश्व पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा और संकटों में उपनिवेशवादियों के उलझाव, पहले महायुद्ध, आर्थिक महामन्दी और फिर दूसरे महायुद्ध का लाभ उठाकर भारतीय औद्योगिक पूँजीपति वर्ग ने अपने उद्योगों का विस्तार किया और बाज़ार में प्रतिस्पर्धा की उसकी आकांक्षाएँ भी बढ़ीं। हर पूँजीपति वर्ग की तरह भारतीय पूँजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद भी मण्डी में पैदा हुआ। यह पूँजीपति वर्ग 'कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग' की यात्रा से नहीं बल्कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना में दलाल और व्यापारी के रूप में विकसित होकर औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के रूप में विकसित हुआ था। पुनर्जागरण (Renaissance) का मानववाद और प्रबोधन (Enlightenment) की तर्कणा एवं जुझारू जनवाद इसकी विरासत नहीं थे। इसका रास्ता बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का, या यहाँ तक कि जुझारू राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का भी रास्ता नहीं था। इसने क्रमशः अपनी बढ़ती ताकत के हिसाब से 'दबाव-समझौता-दबाव' की रणनीति अपनाते हुए और अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और उपनिवेशवादियों के संकट का लाभ उठाते हुए राजनीतिक आजादी हासिल करने का रास्ता चुना। इस प्रक्रिया में इसने क़दम-क़दम पर जनता की पहलक़दमी को दबाया, क़दम-क़दम पर बढ़ते जनसंघर्षों को समझौतों में धकेलकर धोखाधड़ी की। यह अनायास नहीं कि इसकी प्रमुख पार्टी कांग्रेस के नेतृत्व में शहरी उच्च मध्य वर्ग के अतिरिक्त सवर्ण भू-स्वामियों और धनी काशतकारों के प्रतिनिधि थे। यह अनायास नहीं कि इसके अग्रणी सिद्धान्तकार

गाँधी के सामाजिक विचार नितान्त दकियानूसी थे, वे स्वयं को वर्णाश्रम धर्म के सुधरे हुए रूप के कट्टर समर्थक सनातन हिन्दू बताते थे, दलितों के प्रति उनका कार्यक्रम “अछूतोद्धार” से आगे नहीं जाता था, उनका सेक्यूलरिज़्म हिन्दू-मुस्लिम भाईचारा से आगे नहीं जाता था। उनका मानववाद धार्मिक चाशानी में लिथड़ा हुआ और पुनरुत्थानवाद की गन्द में सना हुआ था। इस मायने में वे अपने गुरुओं – रस्किन, थोरो, तोल्स्तोय – से काफ़ी पीछे थे, उनके एक “सनातन हिन्दू” अनुयायी थे। ग्राम स्वराज्य, मशीनी संस्कृति का विरोध, अछूतोद्धार, ट्रस्टीशिप का गाँधीवादी युटोपिया ग़रीबों को राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ लेने और अस्पृश्यों के ज़ख्मों पर मरहम लगाने के लिए था, वर्ग संघर्ष के दबाव को कम करके जनसमुदाय को बुर्जुआ नेतृत्व के पीछे खड़ा करने के लिए था। उसका अमली रूप पूँजीवाद ही हो सकता था और नेहरू के नेतृत्व में आगे चलकर वही हुआ। कांग्रेस एक ओर किसानों को भूमि सुधार का आश्वासन देती थी, दूसरी ओर भू-स्वामियों को भी उनके हितों का ख़याल रखने की गारण्टी देती थी। मज़दूर वर्ग के संघर्षों के प्रति तो उसका रुख सदा ही विरोध का, समझौते के लिए दबाव बनाने का और विश्वासघात करने का रहा। ऐसे बुर्जुआ वर्ग की ऐसी राजनीतिक पार्टी जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला (अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था विरोधी) कोई आमूलगामी आर्थिक कार्यक्रम ले ही नहीं सकती थी, न ही वह इसके विरुद्ध कोई जुझारू जनवादी सामाजिक आन्दोलन खड़ा कर सकती थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में कम्युनिस्ट धारा

राष्ट्रीय आन्दोलन की दूसरी मुख्य धारा कम्युनिस्ट पार्टी की थी, अतः यह देखना ज़रूरी है कि जाति प्रश्न को लेकर उसका दृष्टिकोण और व्यवहार क्या था। इसको भलीभाँति समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि भारत का कम्युनिस्ट आन्दोलन अपनी किन कमजोरियों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा नहीं बन सका और लोक जनवादी क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न नहीं कर सका। कम्युनिस्ट आन्दोलन का विचारधारात्मक आधार भारत में शुरू से ही कमज़ोर था (इतिहास-विकास में निहित जिसके वस्तुगत कारण की हमने ऊपर चर्चा की है) और यह कमज़ोरी लगातार बनी रही। पार्टी की स्थापना की घोषणा 1920 में ताशकन्द में हुई और 1925 में कानपुर में एक बेहद ढीले-ढाले संघटन वाला अखिल भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन भी हुआ, पर इसके बाद भी देश के विभिन्न हिस्सों में सक्रिय कम्युनिस्ट ग्रुप एक केन्द्रीकृत नेतृत्व के मातहत संगठित नहीं हो सके। जो भी ढीला-ढाला नेतृत्व था, वह ठोस परिस्थितियों की

जाँच-पड़ताल करके भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी, सामन्तवाद-विरोधी क्रान्ति का कार्यक्रम और मार्ग तय करने के बजाय ज्यादातर कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के मुखपत्र 'इम्पेकोर' में और सोवियत पार्टी के पत्रों में छपे भारत विषयक लेखों को और ब्रिटिश पार्टी के रजनीपाम दत्त के लेखों को अपने फैसलों और कार्रवाइयों का आधार बनाता था। पहली बार, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल और चीन, ब्रिटेन तथा जर्मनी की पार्टियों के सुझाव पर 1933 में लेनिनवादी पार्टी ढाँचा तैयार करने के लिए एक आरज़ी केन्द्रीय कमेटी का गठन हुआ। कहा जा सकता है कि पार्टी गठन की प्रारम्भिक प्रक्रिया ही 1933 में पूरी हुई। इसके बाद भी, पार्टी की पहली कांग्रेस 1943 में, दस वर्ष बाद हुई। विडम्बना यह कि तब भी पार्टी के पास क्रान्ति का न कोई कार्यक्रम था, न ही भूमि-कार्यक्रम (Agrarian Programme) था। पहली बार, मास्को में स्तालिन और सोवियत पार्टी के प्रतिनिधियों से बातचीत के बाद, भारतीय कम्युनिस्ट नेतृत्व ने 1951 में एक नीति-विषयक वक्तव्य और एक कार्यक्रम का दस्तावेज़ जारी किया जिसे 1951 के अखिल भारतीय पार्टी सम्मेलन और 1953 की तीसरी पार्टी कांग्रेस में पारित किया गया। क्रान्ति की मंजिल और आम दिशा के बारे में मूलतः और मुख्यतः सही होने के बावजूद, भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र तथा भूमि सम्बन्धों के रूपान्तरण और समाज-विकास की आम दिशा के बारे में इस कार्यक्रम के मूल्यांकन यथार्थ से मेल नहीं खाते थे, इसे आगे चलकर समय ने एकदम स्पष्ट कर दिया। बहरहाल, यह कार्यक्रम भी अब केवल कोल्ड स्टोरेज में रखे रहने के लिए ही था क्योंकि तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद पार्टी अब पूरी तरह से संशोधनवाद की राह पर चल चुकी थी और एक खुली संसदीय पार्टी बन चुकी थी। फिर 1956 में खुश्चेवी संशोधनवाद से इसे अन्तरराष्ट्रीय सर्टिफिकेट भी हासिल हो गया।

इसी विचारधारात्मक कमज़ोरी के चलते राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पार्टी बार-बार अनुकूल अवसर का लाभ उठाने से चूकती रही और राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा का नेतृत्व गाँधी-नेहरू की कांग्रेस से छीनने में विफल रही। 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब असहयोग आन्दोलन की वापसी से खोयी साख गाँधी अभी भी हासिल नहीं कर पाये थे और स्वराज पार्टी का असेम्बलीवादी समझौतापरस्त चरित्र नंगा हो चुका था, वह 'वर्कर्स एण्ड पीज़ेण्ट्स पार्टी' गठित करने और उसके तेज़ प्रभाव-विस्तार का दौर था, पर पार्टी संगठित और सुस्पष्ट समझ से युक्त थी ही नहीं कि उसका लाभ उठा सके। 'गाँधी-इरविन समझौते' और उसके बाद 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के विरुद्ध देशव्यापी भण्डाफोड़ और जनलामबन्दी संगठित न कर पाना भी पार्टी की सांगठनिक कमज़ोरी के नाते था। उसके बाद पी.सी. जोशी के

दक्षिणपन्थी रुझान वाले दौर में पहलकदमी हाथ में लेने के अनेक अवसर पार्टी चूकी। संयुक्त मोर्चे की द्वन्द्वात्मक नीति के अभाव में बुर्जुआ राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रति समझौतापरस्ती का रुख पैदा होना लाजिमी था। जब कांग्रेस और लीग की प्रान्तीय सरकारें जनता में व्यापक मोहभंग पैदा कर रही थीं, उस समय पार्टी आगे बढ़कर व्यापक जनान्दोलन संगठित कर सकती थी और पहल अपने हाथ में ले सकती थी, पर ऐसा न हो सका। सबसे अफ़सोसनाक दौर था 1946 से लेकर 1950 तक का लम्बा संक्रमणकालीन दौर, जब एक ओर भारतीय बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस और लीग देश के विभाजन और सत्ता-हस्तान्तरण के लिए मोल-तोल की वार्ताओं में लगी थीं, मात्र 11 प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा भावी आज़ाद देश का संविधान बना रही थी और दूसरी ओर यही दौर देशव्यापी मजदूर हड़तालों, नौसेना विद्रोह, सेना और वायुसेना में भी विद्रोह की सुगबुगाहटों तथा सबसे बढ़कर, तेलंगाना, तेभागा और पुनप्रा-वायलार के महान किसान संघर्षों का दौर था। देश के अन्य हिस्सों में भी कई छोटे-छोटे किसान संघर्ष चल रहे थे। यदि सच्चे अर्थों में एक संगठित लेनिनवादी पार्टी होती तो आज देश का इतिहास कुछ और होता। लेकिन यही दौर था जब रणदिवे एक ओर “वामपन्थी” दुस्साहसवाद की लाइन चला रहे थे और दूसरी ओर यूगोस्लावियाई संशोधनवादी कार्देलज़ से आइडिया लेकर जनवादी क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति की मंजिलों को एक में मिला देने की खिचड़ी पका रहे थे। उधर बम्बई में डांगे गुट पहले से ही अर्थवाद के पंककुण्ड में धँसा था। आन्ध्र की पार्टी कमेटी सापेक्षतः सही रास्ते पर थी और चीन की तरह लोकयुद्ध के देशव्यापी विस्तार पर बल दे रही थी पर केन्द्रीय नेतृत्व ने ‘आन्ध्र थीसिस’ को खारिज कर दिया। मजदूरों-किसानों के इन सभी संघर्षों में कम्युनिस्ट क़तारें बेमिसाल शौर्य और बलिदान के साथ अगली पाँतों में थीं पर ऐसा केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था जो इन संघर्षों को एक कड़ी में पिरोकर देशव्यापी बना सके। अन्ततः सभी अलग-अलग संघर्ष या तो बिखर गये या कुचल दिये गये। नेहरू ने सेना भेजकर तेलंगाना किसान संघर्ष का बर्बर दमन कराया।

बहुत सारे दलित बुद्धिजीवी कम्युनिस्ट आन्दोलन पर जाति प्रश्न की अनदेखी करने का (और कभी-कभी तो जातिगत पूर्वाग्रह तक का) आरोप लगाते रहे हैं और इन दिनों कुछ नौदलितिये मार्क्सवादी बौद्धिकों में भी यह चलन आम हो चला है। कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी भी ऐसा कहते हुए मानो अतीत के पाप-प्रक्षालन के लिए बिना विस्तृत विश्लेषण में गये मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद के समन्वय की अलग-अलग तजवीजें पेश कर रहे हैं, मानो ऐसा करके ही वे दलित आबादी का दिल जीत लेंगे। यह या तो पराजय बोध है या फिर सस्ता लोकरंजकतावाद (populism)। ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज के

अन्य पक्षों और क्रान्ति की अन्य समस्याओं पर तो कम्युनिस्ट पार्टी ने यथोचित सैद्धान्तिक कार्य किया और व्यवस्थित ढंग से अपनी नीति-रणनीति तय की और सिर्फ जाति प्रश्न की ही उसने अनदेखी कर दी। जिस पार्टी के पास 1951 तक भारतीय क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न हो, भूमि-कार्यक्रम (Agrarian programme) का कोई दस्तावेज़ तक न हो, उससे सिर्फ जाति प्रश्न पर सांगोपांग अवस्थिति दस्तावेज़ और सुस्पष्ट दिशा की अपेक्षा भला कैसे की जा सकती है? यानी जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की जो कमी थी, वह उसकी भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक आम कमजोरी का एक हिस्सा मात्र थी। फिर भी इस तथ्य का उल्लेख ज़रूरी है कि 1930 में 'कारवाई के लिए संयुक्त मंच' के अपने दस्तावेज़ में पार्टी ने जाति प्रथा और अस्पृश्यता की तफ़्सील से चर्चा की है, जाति प्रथा विरोधी संघर्ष को सामन्तवाद और ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ा है और मेहनतकश "अच्छूत" जनता को जातिगत आधार पर बाँटने की चालों से बचते हुए देश भर के मजदूरों के साथ मिलकर सामन्तवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध लड़ने का आह्वान किया है। साथ ही उसने जाति प्रथा और हर प्रकार की जातिगत असमानता के विरुद्ध लड़ने की घोषणा की है। पुनः 1948 में हुई पार्टी की दूसरी कांग्रेस की राजनीतिक थीसिस के दस्तावेज़ में भी इस प्रश्न को उठाया गया है और पाँच पैराग्राफ अस्पृश्यों की समस्या पर दिया गया है। इस दस्तावेज़ में अस्पृश्यों को 'ऊँची' जातियों के बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध समझौताहीन संघर्ष चलाते हुए उन अवसरवादी और अलगाववादी नेताओं के विरुद्ध भी संघर्ष की बात कही गयी है जो शोषक वर्गों के साथ खड़े होकर अस्पृश्यों को इस संघर्ष से अलग करते हैं। जाहिर है कि यहाँ इशारा अन्य दलित कांग्रेसी नेताओं और पेरियार के साथ ही मुख्यतः अम्बेडकर की ओर है। **सुभाष गाताडे** (देखें, उनका लेख '**Cast Away Caste: Breaking New Grounds,**' countercurrent.org) और उन जैसे बहुतों को तकलीफ है कि जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम दिये बगैर कम्युनिस्ट पार्टी ने अस्पृश्यता से लड़ने की बात करते हुए अम्बेडकर को अलगाववादी, अवसरवादी और ब्रिटिश समर्थक करार दे दिया जिससे जातिगत पूर्वाग्रह पैदा हुए। यह अलग बात है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति उन्मूलन का ठोस कार्यक्रम नहीं निरूपित किया। वह तो अम्बेडकर ने भी नहीं किया, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी। पर जो उस समय की सच्चाई थी, उससे मुँह भला कैसे चुराया जा सकता था। डॉ. अम्बेडकर ने कांग्रेसी 'उच्च' जातीय नेतृत्व का विरोध करते हुए दलितों को उनकी माँगों पर न सवर्ण ज़मींदारों के विरुद्ध संगठित किया, न ही उनके पालक-पोषक उपनिवेशवादियों के विरुद्ध। वे उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष से ही अलग रहे, स्वाधीनता-प्राप्ति का विरोध करते रहे, फिर पहले लीग और फिर कांग्रेस के समर्थन से 11 प्रतिशत

कृलीनों के प्रतिनिधित्व वाली संविधान सभा में बैठकर उस समय संविधान बना रहे थे और सहयोग के लिए कांग्रेस का बार-बार आभार प्रकट कर रहे थे (देखिये, संविधान सभा में उनके भाषण), जब तेलंगाना में नेहरू की सरकार किसानों-भूमिहीनों का बर्बर दमन कर रही थी। समग्रता में उनकी भूमिका का मूल्यांकन अभी अलग बात है, 1948 में उन्हें अवसरवादी और अलगाववादी के अतिरिक्त और भला क्या कहा जा सकता था? दलित जातियों को साथ लेने के लिए सच्चाई पर लीपापोती करके अम्बेडकर को साथ लेने की नहीं, बल्कि जनवादी क्रान्ति के कार्यभार में अस्पृश्यता और जाति प्रथा उन्मूलन के दीर्घकालिक संघर्ष के ठोस कार्यभारों को निरूपित करने की ज़रूरत थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने यह नहीं किया, वह उसकी कमी थी। यह उल्लेख भी यहाँ ज़रूरी है कि एटक ने भी अपने चौथे-पाँचवे-छठे अधिवेशन में अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाया था और बाद में भी इसे 'मज़दूर वर्ग के चार्टर' में शामिल किया गया था। किसान सभा की केन्द्रीय परिषद ने भी सितम्बर 1945 में अपने माँगपत्रक में अस्पृश्यता विरोधी माँग शामिल की थी। इन तथ्यों की सिरे से अनदेखी नहीं की जानी चाहिए, पर इसका यह मतलब नहीं कि कमी या कमजोरी नहीं थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने जाति प्रथा के उद्भव और औपनिवेशिक काल तक उसकी मौजूदगी के सामाजिक आधारों का तथा जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का मार्क्सवादी विश्लेषण करते हुए जनवादी क्रान्ति की मंजिल में जाति के प्रश्न पर संघर्ष की ठोस रणनीति की कोई रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की, जातिगत सामाजिक बँटवारे और भेदभाव की संस्कृति के विरुद्ध सतत, व्यापक, सुव्यवस्थित आन्दोलन का कार्यक्रम नहीं दिया और यह भी नहीं बताया कि सर्वहारा राज्य की स्थापना होने के बाद जाति के पूर्णरूपेण उन्मूलन की प्रक्रिया क्या होगी या उसकी आम दिशा क्या होगी! यह कमजोरी अकेली या अलग-थलग नहीं थी, यह उस व्यापक विचारधारात्मक कमजोरी के ही चलते थी जिसके चलते पार्टी के पास 1947 के चार वर्षों बाद तक क्रान्ति के कार्यक्रम का कोई दस्तावेज़ ही नहीं था।

लेकिन इतिहास के साथ न्याय तभी होगा जब तस्वीर के दूसरे पहलू की भी अनदेखी न की जाये। विचारधारा और लाइन की कमजोरी के बावजूद, बीसवीं शताब्दी में दलित और अन्य उत्पीड़ित जातियों के उत्पीड़न और भेदभाव के विरुद्ध कम्युनिस्ट हर उस क्षेत्र में बहादुरी से लड़े जहाँ उनका प्रभाव था। उनसे अधिक यह काम किसी ने नहीं किया। बिहार और उत्तर प्रदेश के सवर्ण भू-स्वामी तो हिकारत से कम्युनिस्ट पार्टी को 'चमारों-दुसाधों की पार्टी' कहा ही करते थे। कम्युनिस्टों का मुख्य सामाजिक आधार ही गाँव के भूमिहीनों में था, जो ज़्यादातर दलित थे। किसान सभाओं में काश्तकार कम्युनिस्टों के साथ

आते थे, क्योंकि वे ही जुझारू ढंग से उनकी माँगें उठाते थे (हालाँकि किसानों में कांग्रेस का प्रभाव कहीं अधिक था), लेकिन वे (काश्तकार) भी उन्हें भूमिहीन दलितों का ही अधिक हितैषी मानते थे। देश के सैकड़ों स्थानों पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं ने दलितों के साथ भेदभाव या उनके उत्पीड़न के विरुद्ध आन्दोलन चलाये। 1951-52 तक पेशेवर क्रान्तिकारियों की परम्परा वास्तविक अर्थों में मौजूद थी और सवर्ण जातियों से आने वाले ऐसे कार्यकर्ता भी दलित बस्तियों में ही रहते थे। यह परम्परा संशोधनवाद के दौर में भी कुछ समय तक बनी रही। यह याद रखना होगा कि तेलंगाना किसान संघर्ष की पूर्वपीठिका बनाते हुए आन्ध्र महासभा में काम करने के दौरान कम्युनिस्टों ने अन्य सामाजिक बुराइयों के अतिरिक्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता, धार्मिक रूढ़ियों और स्त्रियों की गुलामी को भी मुद्दा बनाया था और शक्तिशाली सामाजिक आन्दोलन के ज़रिए वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनाया था। इसलिए एकदम झाड़ू-बुहारू ढंग से कम्युनिस्ट आन्दोलन पर आरोप मढ़ने की जगह मुद्दे की गहराई में जाने की ज़रूरत है। मूल कारण कम्युनिस्ट आन्दोलन की विचारधारात्मक कमज़ोरी थी और उसे उसी रूप में देखा जाना चाहिए।

अम्बेडकर और पेरियार की धारा

इसके बाद हम राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में अम्बेडकर और पेरियार की भूमिका पर आते हैं। अम्बेडकर ब्रिटिश शिक्षा व्यवस्था के कारण दलितों की एक छोटी आबादी को मिले अवसर और उद्योगों के विकास के चलते जातिगत पेशों से दलितों के बँधे से होने से मुक्त होने की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते थे और उन्हें उम्मीद थी कि ब्रिटिश सत्ता के बने रहते दलितों की स्थिति बदलेगी और सवर्ण जातियों की ब्राह्मणवादी जकड़ टूटेगी। वे इस सच्चाई को समझने में विफल रहे कि इन क़दमों से मात्र इतना होगा कि दलितों के एक अत्यन्त छोटे हिस्से के भीतर से एक मध्य वर्ग पैदा होगा और शहरी दलितों के नग्न जातिगत उत्पीड़न में कुछ कमी आयेगी। बहुसंख्यक दलित आबादी गाँवों में जिन सवर्ण भू-स्वामियों के शोषण-उत्पीड़न का शिकार थी, वे उसी अर्द्ध-सामन्ती भूमि व्यवस्था की उपज थे जो अंग्रेज़ों ने लागू की थी। उस भूमि व्यवस्था की जड़ों पर क्रान्तिकारी चोट किये बिना व्यापक दलित समुदाय की मुक्ति असम्भव थी और भूमि क्रान्ति का ऐसा कोई कार्यक्रम अम्बेडकर के पास कभी नहीं था। उपनिवेशवाद के विरुद्ध कभी तो वे अतिशय कृतज्ञता प्रकट करते थे, कभी इस बात के लिए क्षोभ प्रकट करते थे कि अंग्रेज़ों ने अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए अपेक्षित प्रयास नहीं किये और कभी अकाल, ग़रीबी

और देश की लूट की चर्चा करते हुए उद्योग-व्यापार के विकास में बाधक बनने के लिए ब्रिटिश नीतियों की भर्त्सना करते थे। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जब वे कटु होते थे, उस समय भी उनका स्टैण्ड यही होता था कि हम एकसाथ दो शत्रुओं से नहीं लड़ सकते, अतः ब्राह्मणवाद से लड़ना ही अभी हमारी प्राथमिकता है। कांग्रेसी नेतृत्व के बुरुजुआ वर्ग-चरित्र की उन्होंने कभी चर्चा नहीं की, उन्हें उसमें सवर्णों और विशेषकर ब्राह्मणों के वर्चस्व पर आपत्ति थी। पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना में निहित जाति-व्यवस्था की जड़ों को पहचानने की जगह अम्बेडकर की मुख्य समझ यह थी कि सत्ता में दलितों की हिस्सेदारी उनकी स्थिति में बदलाव ला सकती है। उनकी समझ थी कि उपनिवेशवाद के समाप्त होने से भारत में ब्राह्मणवादी निज़ाम कायम हो जायेगा, इसलिए राष्ट्रीय आन्दोलन से वे हमेशा अलग रहे। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन की कांग्रेसी धारा का नेतृत्व ब्राह्मणवादी था और औपनिवेशिक शासन भी दलितों के हक में नहीं था तो उपनिवेशवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध दलितों को एक अलग धारा के रूप में एक रैडिकल कार्यक्रम पर संगठित किया जा सकता था, पर ऐसा करने के बजाय अम्बेडकर ने राष्ट्रीय आन्दोलन से ही किनारा करके अंग्रेजों से वार्ता और मोल-तोल करते हुए मुख्यतः उनके साथ खड़ा रहने का विकल्प चुना। जहाँ तक सामाजिक आन्दोलन का प्रश्न है, अम्बेडकर की सारी परियोजना ब्राह्मणवाद-विरोधी छोटे-मोटे आन्दोलनों से लेकर धर्म-परिवर्तन में जाति समस्या का समाधान ढूँढ़ने तक सिमटी रही।

जिस समय पूरे देश की जनता साइमन कमीशन का बॉयकाट कर रही थी, अम्बेडकर उसके समक्ष ज्ञापन प्रस्तुत कर रहे थे। 1926 से 1934 तक वे बम्बई विधान परिषद के मनोनीत सदस्य थे। गोलमेज सम्मेलन में उन्होंने कहा कि दलितों ने रूढ़िवादी हिन्दुओं के सदियों पुराने जुल्मों से मुक्ति दिलाने वाले लोगों के रूप में अंग्रेजों का स्वागत किया और हिन्दुओं-मुसलमानों-सिखों के विरुद्ध लड़कर यह साम्राज्य उन्हें दिया (हालाँकि यह तथ्यतः ग़लत है कि कम्पनी की सेना में ज़्यादातर दलित सैनिक थे, वे बहुत ही कम थे), अतः दलित और अंग्रेज़ एक असाधारण बन्धन में बँधे हुए हैं और अंग्रेज़ दलितों के संरक्षक हैं (अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 5, पृष्ठ 16)। इसके बाद जब वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद की आलोचना कर रहे थे, उस समय भी स्वतन्त्रता संघर्ष में दलितों की भागीदारी का इस तर्क से विरोध कर रहे थे कि यह संघर्ष सवर्ण हिन्दुओं की सत्ता स्थापना के लिए हो रहा है।

अक्सर कुछ दलित और नव-मार्क्सवादी अध्येता यह स्थापना देते हैं कि 1929 में बम्बई की प्रसिद्ध कपड़ा मिल हड़ताल इसलिए टूटी क्योंकि कम्युनिस्ट नेतृत्व वाली यूनियन ने दलित मजदूरों की माँगों की अनदेखी की थी

और वे हड़ताल से अलग हो गये। तथ्यों के पुनरावलोकन की ज़रूरत है। हड़ताल इस बात पर हुई थी कि नयी मशीनें आने के बाद एक ही मजदूर से तीन लूम चलवाये जा रहे थे और मजदूरों की छँटनी हो रही थी। दलित मजदूर हड़ताल में साथ थे। यह सच है कि मिल में दलित मजदूरों के साथ भेदभाव था और छुआछूत के आधार पर कुछ काम उन्हें नहीं करने दिये जाते थे। यह एक अलग मुद्दा है कि कम्युनिस्ट पार्टी को ऐसे मुद्दों को लेकर भी मजदूरों के बीच सतत शिक्षा एवं प्रचार कार्य करना चाहिए था और प्रबन्धन के सामने भी माँगें रखनी चाहिए थीं। लेकिन उस समय एक आसन्न संकट को लेकर जब सभी मजदूर हड़ताल पर चले गये तब अम्बेडकर ने चार्टर में दलित मजदूरों की विशिष्ट माँगों को जोड़ने की ज़िद पकड़ी और दलित मजदूर काम पर लौट गये, जिससे हड़ताल टूट गयी। दरअसल, जीवनीकार **धनंजय कीर** के अनुसार, अम्बेडकर हड़तालों को आर्थिक लड़ाई से अधिक राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित मानते थे और मानते थे कि इससे दलितों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। 1926 से लेकर 1934 तक वे दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई असेम्बली के मनोनीत सदस्य थे। 1935 के कुख्यात 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के देशव्यापी विरोध में भी अम्बेडकर शामिल नहीं थे। इसके तहत होने वाले असेम्बली चुनावों में भागीदारी के लिए उन्होंने 'स्वतन्त्र मजदूर पार्टी' (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) बनायी, जिसका प्रभाव केवल बम्बई प्रान्त में था। असेम्बली में वे विपक्ष में बैठे। केवल यही वह दौर था जब कम्युनिस्टों से घोर घृणा करने वाले अम्बेडकर ने मजदूरों और किसानों के आन्दोलनों में उनके साथ शिरक़त की। 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' विरोधी हड़ताल में उन्होंने दलित मजदूरों के शामिल होने की कोई शर्त नहीं रखी और व्यापक मजदूर एकजुटता के चलते इस हड़ताल की विजय भी हुई। इस समय उन्होंने हड़ताल के जनवादी अधिकार के पक्ष में बयान दिये और यहाँ तक कहा कि यदि कांग्रेस वास्तव में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करे तो वे उसमें शामिल हो जायेंगे। लेकिन उनका यह रैडिकल तेवर अल्पकालिक था। दूसरे विश्वयुद्ध के समय जैसे ही यह लगने लगा कि संकटग्रस्त अंग्रेज़ भारत छोड़कर जा सकते हैं और 'वैवेल प्लान' सामने आया, वैसे ही स्वतन्त्र मजदूर पार्टी को अम्बेडकर ने भंग कर दिया और 'अनुसूचित जाति संघ' बनाकर 'राज्य और अल्पसंख्यक' नामक प्रस्ताव तैयार किया जिसे बाद में संविधान सभा के सामने प्रस्तुत किया गया। इस दौरान, 1942 से 1946 तक वे श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक रहे। साम्राज्यवाद से संघर्ष करने की बातें काफ़ी पीछे छूट चुकी थीं। अम्बेडकर का नया स्टैण्ड यह था कि दलितों की हिफ़ाज़त की समुचित व्यवस्था से पहले अंग्रेज़ों को भारत नहीं छोड़ना चाहिए। यही समय था जब वे एक हिन्दू और एक मुस्लिम राष्ट्र के रूप में भारत के विभाजन के पुरज़ोर

समर्थक हो गये थे (बाद में संविधान सभा में शामिल होने पर उनका स्टैण्ड बदलकर कांग्रेस जैसा हो गया था), जिससे ब्रिटिश शासक और मुस्लिम लीग को ही नहीं, सावरकर को भी काफी प्रसन्नता हुई थी।

1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट' के तहत जब मात्र 11 प्रतिशत लोगों के निर्वाचक मण्डल द्वारा संविधान सभा का चुनाव हुआ, तो यूरोपीय-अमेरिकी जनवाद के कायल अम्बेडकर को सार्विक मताधिकार की कोई याद नहीं आयी और वे बंगाल से लीग के समर्थन से निर्वाचित होकर संविधान सभा के सदस्य बने। पाकिस्तान बनने के बाद जब संविधान सभा विभाजित हुई तो अम्बेडकर के लिए झटपट एक सीट खाली करवाकर कांग्रेस ने बम्बई से उन्हें चुनवा लिया। कांग्रेस ने उन्हें ड्राफ्टिंग कमेटी का अध्यक्ष बनाया। 1935 के क़ानून के आधार पर दो नौकरशाहों ने एक ड्राफ्ट तैयार करके अम्बेडकर को सौंपा, अम्बेडकर ने उसी को सजा-धजाकर संविधान का अन्तिम ड्राफ्ट तैयार किया। संविधान सभा में अम्बेडकर के भाषणों को पढ़ना अपनेआप में एक दिलचस्प अनुभव है। कांग्रेस के प्रति तो वे कृतज्ञता और एकजुटता से ओत-प्रोत दिखते हैं, सभा के अनुदारवादी सदस्यों (जिनमें सामन्ती कुलीनों के प्रतिनिधि भी शामिल थे) के प्रति भी वे कृतज्ञता ज्ञापित करते नहीं थकते। गौरतलब है कि अम्बेडकर जब संविधान का ड्राफ्ट तैयार करने में तल्लीन थे, यही वह समय था जब देशव्यापी जनउभार चल रहे थे, मजदूर हड़तालें हो रही थीं, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा-वायलार के किसान संघर्ष चल रहे थे और नेहरू की भेजी सेना ने तेलंगाना के संघर्ष का बर्बर रक्तपातपूर्ण दमन भी इसी दौरान किया। तेलंगाना में जमींदारों के गुण्डा गिरोहों, निज़ाम के रज़ाकारों और फिर भारतीय सेना ने जिन रैयतों और भूमिहीनों पर वहशियाना जुल्म ढाये, वे ज़्यादातर शूद्र और दलित जातियों के ही लोग थे। पर अम्बेडकर न कुछ देख रहे थे, न सुन रहे थे, न बोल रहे थे, वे संविधान लिख रहे थे और नेहरू के मन्त्रिमण्डल में क़ानून मन्त्री के पद पर विराजमान थे। संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके ज़्यादातर प्रस्तावों को संविधान सभा ने खारिज कर दिया, इस पर अम्बेडकर को उस समय कोई शिकायत नहीं हुई। यह वही संविधान है जो सर्वोपरि तौर पर निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की गारण्टी देता है (सम्पत्तिहीन दलितों को इससे क्या लाभ था?)। जनता द्वारा किसी भी चुनौती से निपटने के लिए रहे-सहे जनवाद को भी ताक पर धरकर आपातकाल लागू कर देने का प्रावधान इसी संविधान में मौजूद है। हर पाँच वर्षों बाद पूँजी की ताक़त से जन-प्रतिनिधि चुनने का जो नाटक आज वीभत्सतम रूप ले चुका है, वह इसी संविधान का प्रावधान है। अस्पृश्यता समाप्त करने का प्रावधान इस संविधान में ही मौजूद है (और 1955 में ऐसा क़ानून भी बना), पर यह महज एक कागज़ी बात थी। आज अस्पृश्यता

में जो भी कमी आयी है, उसका कारण संवैधानिक या वैधिक प्रावधान नहीं, बल्कि पूँजीवादी विकास की अपनी स्वतन्त्र गति है। राजे-रजवाड़ों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के बदले उन्हें मुआवज़े देने और प्रिवी पर्स के प्रावधान से अम्बेडकर की पूर्ण सहमति थी। संविधान में चाहे जनवाद का जितना भी ढकोसला किया गया हो, आम जनता का रोज़मर्रा के जीवन में क़ानून-व्यवस्था से ही वास्ता होता है और भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सत्ता ने उस क़ानून व्यवस्था (आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल, सम्पत्ति विषयक क़ानून) आदि का औपनिवेशिक ढाँचा यथावत बरकरार रखा (बाद में उसमें एक के बाद एक नये-नये काले क़ानून जुड़ते चले गये)। करधान की प्रणाली शुरू से ही ऐसी थी जिसका पूँजीपति मनमाना लाभ उठा सकें तथा राजकाज का सारा बोझ परोक्ष करों के ज़रिए आम जनता पर पड़े। अम्बेडकर स्वयं क़ानून मन्त्री थे, पर ऐसे किसी भी प्रश्न पर उनकी कोई आपत्ति नहीं थी। कांग्रेस से अम्बेडकर की दूरी बनने का कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं था, बल्कि यह था कि वे विधि के बजाय श्रम मन्त्रालय चाहते थे और काफी इन्तज़ार के बाद भी नेहरू ने उनकी इच्छा पूरी नहीं की। फिर 1955 में अम्बेडकर ने इस्तीफ़ा दे दिया। अब वे संविधान सभा के अपने भाषणों के एकदम विपरीत, संविधान निर्माण के दौरान की अपनी विवशताओं की चर्चा करने लगे और संविधान उन्हें इतना निरर्थक लगने लगा कि उन्होंने घोषणा कर दी कि 'इस संविधान को जलाने वाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा।' जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी बनाने की घोषणा की (जो उनके मरणोपरान्त अस्तित्व में आयी)। इस नयी पार्टी के पास भी दलित मुक्ति का कोई रैडिकल सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था और मात्र चुनाव के ज़रिए सत्ता में दलितों की दावेदारी बढ़ाकर उनकी स्थिति बदल देने का दिवास्वप्न ही इस पार्टी का कार्यक्रम था। आश्चर्य नहीं कि रिपब्लिकन पार्टी के विभिन्न धड़ों और बाद में पैदा हुईं तमाम अम्बेडकरवादी पार्टियों ने सत्ता में भागीदारी के इसी तर्क के आधार पर कांग्रेस, हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट भा.ज.पा., शिवसेना, दलितों के उत्पीड़क मध्यजातीय कुलकों-फार्मरों की पार्टी स.पा. और कुलकों एवं क्षेत्रीय भू-स्वामियों की द्रमुक, अन्नाद्रमुक जैसी किसी भी जाति से समय-समय पर गाँठ जोड़ने में कोई हिचक नहीं दिखायी। दरअसल, ये पार्टियाँ दलितों के बीच से उभरे बुर्जुआ वर्ग और निम्न-बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें जाति और अम्बेडकर के नाम पर दलित वोट तो मिल जाते हैं लेकिन बहुसंख्यक दलित मेहनतकशों के हितों से जिनका कोई लेना-देना नहीं है। इन पार्टियों का आचरण अम्बेडकर के रास्ते से विचलन नहीं है बल्कि उसी की तार्किक परिणति और विस्तार है।

राजकीय समाजवाद के नाम पर अम्बेडकर की जो आर्थिक नीति थी

(देखिये, संविधान सभा के समक्ष प्रस्तुत उनके प्रस्ताव), वह फेबियन समाजवादी भी नहीं थी। उसमें कुछ यूटोपियाई प्रस्ताव थे और शेष जो बचता था वह नेहरू के उस कथित समाजवाद से कत्तई भिन्न नहीं था जो राजकीय पूँजीवाद और निजी पूँजीवाद का मिला-जुला रूप – मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला पूँजीवाद था। अम्बेडकर का प्रस्ताव था कि सभी प्रमुख उद्योग और बीमा राज्य के स्वामित्व में होंगे, बुनियादी उद्योग राज्य के निगमों के स्वामित्व में होंगे। सारी खेती का राष्ट्रीकरण कर दिया जायेगा। पर वे इतना जोड़ना नहीं भूले कि पूँजीपतियों और भू-स्वामियों को उनके स्वामित्व वाले कारखानों-जमीनों का अधिग्रहण करते समय मुआवजा दिया जायेगा। छोटे उद्यम निजी स्वामित्व में होंगे। राजकीय खेती गाँवों के परिवारों को बिना किसी भेदभाव के पट्टे पर दी जायेगी। पहली बात यह कि इस व्यवस्था में ब्याज, किराया और व्यक्तिगत स्वामित्व पूर्ववत् बने रहने थे, बस सबसे बड़ा वैयक्तिक स्वामी राज्य को होना था। अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी बता सकता है कि यह राजकीय इजारेदार पूँजीवाद से भिन्न और कुछ भी नहीं होता। यह शोषण-सम्बन्धों को समाप्त करने की जगह और बड़े पैमाने पर जन्म देता, नौकरशाह पूँजीपतियों की एक शक्तिशाली जमात खड़ी करता, छोटे पैमाने के निजी उद्यमों को भी बड़ा बनने का अवसर देता और एक निरंकुश सर्वसत्तावादी राज्य का सामाजिक आधार तैयार करता। इन प्रस्तावित राजकीय उद्यमों और कृषि में भी दलित उजरती गुलाम ही होते। जहाँ तक खेती को राजकीय उद्यम बना देने का प्रश्न है, पूँजीपति वर्ग भी यही चाहता है, पर उसकी राज्यसत्ता यह कर नहीं सकती क्योंकि पूँजीपति वर्ग के निकटतम वर्ग सहयोगी और सत्ता के छोटे पार्टनर कुलक-फार्मर-भूस्वामी ऐसा कभी नहीं चाहेंगे। अम्बेडकर घोर कम्युनिज़्म विरोधी अमेरिकी विचारक जॉन डेवी से (वे उसके छात्र भी रहे थे) तो शुरू से प्रभावित थे, पर 1952 में (शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के चुनाव घोषणापत्र में), उनका “राजकीय समाजवाद” अपना रूप बदलकर डेवियन प्रैग्मेटिज़्म के और अधिक निकट आ गया था। अब उनका कहना था कि तेज़ औद्योगिक विकास ज़रूरी है, जहाँ राजकीय नियन्त्रण बेहतर हो, वहाँ वह लागू किया जाये और जहाँ निजी स्वामित्व ज़्यादा कारगर हो, वहाँ उसे लागू किया जाये। कृषि के राष्ट्रीकरण के हवाई खयालात पीछे रह गये थे और अब अम्बेडकर शत-प्रतिशत नेहरू की आर्थिक नीतियों की अवस्थिति पर आ गये थे। अम्बेडकर नहीं भी कहते तो पूँजीपति वर्ग हर तरह से तेज़ औद्योगिक विकास को आतुर था। पूँजी की इस स्वाभाविक गति से जाति-व्यवस्था को जितना कमज़ोर होना था उतना वह हुई। पर मुख्य पहलू यह है कि पूँजीवाद ने अपने हित में जाति-व्यवस्था का अपनी संरचना के साथ तन्तुबद्धीकरण (articulation) कर लिया, इसे परिष्कृत करके अपना लिया,

बहुसंख्यक दलित आबादी का उत्पीड़न, अलगाव और अपमान गाँवों में ही नहीं शहरों में भी जारी रहा और एक छोटी-सी बुर्जुआ और मध्यवर्गीय दलित आबादी शासक वर्ग के अंग और सामाजिक अवलम्ब के रूप में व्यवस्था में सहयोजित कर ली गयी। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था के प्रति अम्बेडकर की अटूट आस्था थी, उनकी सोच उसकी सीमा का कभी अतिक्रमण नहीं कर सकी। उसमें भी उनके आदर्श दिदेश, वॉल्टेयर या टॉम पेन नहीं थे, फेबियन सोशलिस्ट जॉर्ज बर्नार्ड शॉ भी नहीं थे। उनके प्रेरणा स्रोतों का वर्णक्रम एडमण्ड बर्क से लेकर प्रैग्मेटिस्ट अमेरिकी विचारक जॉन डेवी तक फैला हुआ था। वर्ग-निरपेक्ष जनवाद की उनकी समझ बुर्जुआ राजनीति-शास्त्र के तर्कों से अलग कुछ नहीं थी। वे इस बात को समझने में एकदम विफल रहे कि हर जनवाद का एक वर्ग-चरित्र होता है। वह या तो बुर्जुआ जनवाद होता है या समाजवादी जनवाद होता है। बुर्जुआ जनवाद बहुसंख्यक जनता पर बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा जनवाद अल्पसंख्यक शोषकों पर मजदूर वर्ग का (अन्य मेहनतकश वर्गों के सहयोग से) अधिनायकत्व होता है। सर्वहारा तानाशाही से वह यूँ बिदकते हैं मानो वह जनवाद का निषेध हो या पार्टी की निरंकुश सत्ता हो। मार्क्सवाद पर उनके लेखन को पढ़कर यह विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुर्जुआ समाजशास्त्रियों की सतही आलोचनाओं और उसमें दिये गये उद्धरणों के अतिरिक्त मार्क्सवाद की किसी भी क्लासिकी कृति का अध्ययन नहीं किया था। सर्वहारा अधिनायकत्व वह है ही नहीं, जैसा वह बयान करते हैं। समाजवाद और साम्यवाद के बीच का अन्तर भी उन्हें स्पष्ट नहीं था। राज्यसत्ता के वर्ग-चरित्र की समझदारी नहीं होने से ही वे इस बात को नहीं समझ सके कि राज्यसत्ता का बुर्जुआ चरित्र रहते यदि खेती और उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर भी दिया जाये तो वह समाजवाद नहीं बल्कि राजकीय इजारेदार पूँजीवाद ही होगा, न ही वह यह समझ सके कि एक वर्ग की राज्यसत्ता का बलात ध्वंस करके ही दूसरा वर्ग अपनी सत्ता कायम कर सकता है। इतिहास में किसी भी शासक वर्ग ने शान्तिपूर्वक सत्ता हस्तान्तरित नहीं की है। क्रान्तिकारी वर्ग युद्ध में हिंसा एक अनिवार्यता है, किसी की इच्छा नहीं। कम्युनिस्ट जब हिंसा की बात करते हैं तो उनका अर्थ व्यक्तिगत हिंसा नहीं वर्ग हिंसा है, बल द्वारा स्थापित, बल द्वारा संचालित और बल-प्रयोग के माध्यम से कायम राज्यसत्ता को बल द्वारा चकनाचूर करना होता है (इस प्रक्रिया में रक्तपात न हो तो भी बल का प्रयोग होगा जो दार्शनिक अर्थ में हिंसा ही होगी)। इसी तरह, अम्बेडकर को माल-उत्पादन, अधिशेष के विनियोजन या पूँजी-संचय की प्रक्रिया की मार्क्सवादी व्याख्या के बारे में अर्थशास्त्री होते हुए भी कोई जानकारी नहीं थी। आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) और अधिरचना

के द्वन्द्व के बारे में, उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के सतत द्वन्द्व में गुणात्मक उछाल और उत्पादक शक्तियों द्वारा उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़कर नये उत्पादन-सम्बन्धों की स्थापना के रूप में सामाजिक क्रान्ति की परिभाषा से वे अवगत ही नहीं थे। जो मार्क्सवाद यान्त्रिक भौतिकवाद की उत्पत्ति – आर्थिक नियतत्ववाद से संघर्ष करते हुए ही विकसित हुआ था उसी पर वे चलताऊ कलमघसीटों की तरह आर्थिक नियतत्ववादी होने का आरोप लगाते हुए कहते हैं कि मार्क्सवादी मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी मानते हैं। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि उत्पादक कार्रवाई मनुष्य की बुनियादी कार्रवाई है जिसके लिए मनुष्य सुनिश्चित उत्पादन-सम्बन्धों में बँधता है। इन्हीं उत्पादन-सम्बन्धों का समुच्चय समाज का मूलाधार है जिस पर राजनीतिक-वैचारिक-सांस्कृतिक-सामाजिक संस्थाओं और मूल्यों की विराट अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी हो जाती है। एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद अधिरचना की अपनी स्वतन्त्र गति होती है, वह अपनी पारी में मूलाधार को भी प्रभावित करती है और एक सुनिश्चित मूलाधार के नष्ट होने के बाद भी पुरानी अधिरचना बनी रहती है, और नये मूलाधार से तथा नयी अधिरचना से उसका टकराव जारी रहता है। समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में पूँजीवादी मूलाधार के विविध रूप बचे रहते हैं, उनके सतत रूपान्तरण की लम्बी क्रिया के साथ पुरानी अधिरचनाओं के विरुद्ध भी सतत क्रान्ति जारी रहती है। इस प्रस्थापना को नहीं जानने के कारण **अम्बेडकर** 1938 में **जनता** में लिखे गये एक लेख में यह बचकानी टिप्पणी करते हैं कि यदि सांस्कृतिक और धार्मिक उपादानों की इमारत आर्थिक बुनियाद पर टिकी है तो उस बुनियाद को नष्ट करने के लिए भी पहले इमारत ही तोड़नी पड़ती। यह आलोचना भी बिना जाने की गयी आलोचना है। आर्थिक बुनियाद को नष्ट करने के लिए कम्युनिज़्म भी पहले केन्द्रीय राजनीतिक अधिरचनात्मक संस्था – राज्यसत्ता का ही ध्वंस करने की बात करता है और राज्यसत्ता के ध्वंस की मंज़िल तक जनता की चेतना को उन्नत और संगठित करने के लिए आर्थिक-राजनीतिक प्रचार और संघर्ष के साथ ही जनमानस में वर्चस्व जमाये सभी धार्मिक-वैधिक-नैतिक मूल्यों-मान्यताओं और संस्थाओं के विरुद्ध सतत संघर्ष करना होता है। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि किसी भी अधिरचनात्मक तन्त्र को पूर्णतः और अन्तिम तौर पर तभी ध्वस्त किया जा सकता है जब उसके आर्थिक मूलाधार को तोड़ा जा चुका हो। मार्क्सवाद सिर्फ यह कहता है कि अन्ततोगत्वा निर्णायक उपादान मूलाधार ही होता है। इस चर्चा पर हम आगे भी आयेंगे। अम्बेडकर मनुष्य को सिर्फ “आर्थिक प्राणी” होने की अवधारणा को खारिज करते हुए किसी भी नागरिक समाज के लिए धर्म को अनिवार्य बताते हैं। अम्बेडकर का यह “नागरिक समाज” हेगेल ही नहीं, लॉक

और रूसो के नागरिक समाज की अवधारणा से भी पीछे है जो तर्कणा के राज्य का आदर्शकृत रूप था और सामाजिक-राजनीतिक स्पेस में धर्म की उपस्थिति को सिरे से खारिज करता था। दरअसल, मार्क्स के पहले के जुझारू भौतिकवादी बुर्जुआ विचारकों ने भी मानव द्वारा विशेष परिस्थितियों में धर्म के निर्माण के बारे में और धर्म के इतिहास के बारे में जो सोचा था, अम्बेडकर उससे अनभिज्ञ थे। धर्म को वे एक मानवेतर, शाश्वत निदेशक सिद्धान्त मानते थे और उसके सामाजिक उद्गम से अनभिज्ञ थे। इस मामले में वे गाँधी जितने ही दकियानूस थे। उनकी तलाश केवल हिन्दू धर्म से बेहतर धर्म की थी जो 2000 साल पुराने आद्य-बौद्ध धर्म पर जाकर खत्म हुई। आजीवक, लोकायत या सांख्य जैसे ब्राह्मणवाद-विरोधी प्राचीन भौतिकवादी दर्शनों की ओर वे इसलिए नहीं गये क्योंकि वे संगठित धर्म नहीं थे। अम्बेडकर की आत्मिक (spiritual) वंचना यह थी कि वे सिर्फ धर्म को ही आत्मिक सम्पदा समझते थे। मार्क्सवाद मनुष्य को सिर्फ “आर्थिक प्राणी” मानना तो दूर, आत्मिक सम्पदा से रिक्त मनुष्य को मनुष्य होने की शर्तों से रिक्त मानता है और उसका लक्ष्य यह है कि वह सामाजिक ढाँचा नष्ट होना चाहिए, जिसमें सारा समय जीने मात्र के लिए खटने में लगाने के चलते बहुसंख्यक आबादी आत्मिक सम्पदा से वंचित है और दूसरी ओर श्रम के नैसर्गिक मानवीय गुण से रिक्त परजीवी वर्गों के पास भी आत्मिक सम्पदा के नाम पर केवल भोग-विलास और स्वार्थपरता की निकृष्ट संस्कृति है। मार्क्सवाद संस्कृति, कला-साहित्य, संगीत, दर्शन इन सभी को आत्मिक सम्पदा मानता है, मानवीय सारतत्व (Human Essence) मानता है। यदि उन्होंने **मार्क्स-एंगेल्स की 1844 की दार्शनिक-आर्थिक पाण्डुलिपियाँ, पवित्र परिवार, जर्मन विचारधारा, राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** जैसी (गुण्ड्रिस्से तो उनके जीवनकाल में नहीं छपा था) रचनाएँ पढ़ी होतीं, यदि वे **पूँजी** में यहाँ-वहाँ आये सन्दर्भों से परिचित होते, यदि उन्हें लेनिन, स्तालिन, माओ से लेकर गोर्की, लुनाचास्की, ब्रेष्ट, लुकाच, वोरोव्स्की, वोरोन्स्की आदि दर्जनों लोगों द्वारा भाषा, साहित्य, कला, संगीत आदि की सैद्धान्तिकी पर 1950 तक हुए कामों की और समाजवादी कला-साहित्य-संगीत-सिनेमा के क्षेत्र में हुए प्रयोगों के सौवें हिस्से की भी जानकारी होती तो मार्क्सवाद की आत्मिक सम्पदा के बारे में उनके विचार इतने उथले नहीं होते।

आखिरकार अम्बेडकर का दलित मुक्ति का प्रोजेक्ट था क्या? तेज उद्योगीकरण। वह तो पूँजीवाद खुद चाहेगा, पर अपनी पूँजी की ताकत की औकात और इतिहास के रंगमंच की सीमा का अतिक्रमण करके वह इसे नहीं कर सकता था। जितना कर सकता था, उतना उसने साठ वर्षों में किया है। परिणाम क्या है? दस प्रतिशत दलित मध्यवर्गीय हो गये (सामाजिक पार्थक्य और अलगाव उन्हें

भी झेलना पड़ता है), कुछ व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब बन गये और 90 प्रतिशत आबादी गाँवों और शहरों में उजरती गुलामी करती है और जातिगत भेदभाव, पार्थक्य, अपमान और उत्पीड़न झेलती है, फ़र्क इतना है कि स्थिति पहले से बेहतर है। हम एक परिष्कृत, पूँजीवादी चरित्र वाली जाति-व्यवस्था के रूबरू हैं। जो भी बेहतर स्थिति है, वह केवल उद्योगीकरण के चलते नहीं है, आरक्षण की भी इसमें एक भूमिका है। यह अम्बेडकर का एक योगदान जरूर था। जब आरक्षण की माँग की गयी और वह लागू हुआ तो दलितों की (और पिछड़ों की भी) स्थिति देखते हुए वह एक बुर्जुआ जनवादी माँग थी। आज तो आरक्षण एक भँवरजाल बन गया है। आरक्षण के बँटवारे को लेकर दलितों और पिछड़ों के बीच, दलित जातियों-उपजातियों के बीच आपस में और पिछड़ी मानी जाने वाली जातियों के बीच आपस में सबसे अधिक टकराव हो रहे हैं। वह भी तब जब नवउदारवाद के दौर में सरकारी नौकरियाँ लगातार घटती जा रही हैं। साठ वर्षों में आरक्षण ने दस प्रतिशत दलितों को मध्य वर्ग और उनमें से भी दो प्रतिशत को उच्च मध्य वर्ग और बुर्जुआ वर्ग बनाया है। अब आरक्षण की पहुँच इन्हीं तक है और यही मुखर तबका दलित उत्पीड़न पर आग तो बहुत उगलता है लेकिन व्यवस्था में सहयोजित (co-opt) होकर या व्यवस्था का सामाजिक अवलम्ब बनकर शेष नब्बे फीसदी दलित आबादी से दूर हो चुका है। सहयोजन और सामाजिक अवलम्ब-विस्तार का यह काम हर पूँजीवादी व्यवस्था करती है। आरक्षण-विरोध प्रायः सवर्ण प्रतिक्रियावादी मानसिकता से किया जाता है, पर आरक्षण ही यदि दलित संघर्ष के एजेण्डे पर प्रधान हो जाता है और हवाई आशा के नाम पर उन्हें बाँटने लगता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि बुर्जुआ जनवादी माँग से अधिक यह बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों को बनाये रखने का उपकरण बन गया है। आरक्षण आज एक गैर-मुद्दा (non-issue) है, दलित मुक्ति के एजेण्डे पर इसे विस्थापित करके 'समान शिक्षा, सबको रोज़गार' के मुद्दे को स्थान देना होगा। अभी तक हम नौकरियों में आरक्षण की बात कर रहे थे। जहाँ तक सत्ता-तन्त्र में (चुनावी सीटों पर) आरक्षण की बात है, यह एक प्रतिक्रियावादी दलित-विरोधी माँग है। कुछ दलितों के संसद और सरकार में पहुँच जाने से बस इतना होता है कि वे बुर्जुआ राज्यसत्ता के पुर्जे बन जाते हैं, पूरे फ़्रेमवर्क का अतिक्रमण करके दलितों के लिए कुछ रैडिकल सुधार भी वे नहीं करवा सकते। छह दशकों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है।

जहाँ तक जाति-व्यवस्था के समूल नाश की किसी परियोजना की बात है, अम्बेडकर के पास कभी भी उसकी सांगोपांग सोच नहीं थी। 1936 का उनका प्रसिद्ध निबन्ध **जाति उन्मूलन** अन्तरविरोधी बातों का भँवरजाल है जिसका अन्तिम निष्कर्ष यही निकलता है कि जाति का उन्मूलन असम्भव है। उनका

कहना है कि प्रत्येक देश में बुद्धिजीवी वर्ग ही सर्वाधिक प्रभावी वर्ग होता है और हिन्दुओं में बुद्धिजीवी सिर्फ ब्राह्मण हैं जो जाति प्रथा के खात्मे के लिए कतई तैयार नहीं होंगे। धर्मनिरपेक्ष ब्राह्मण भी आपसी रिश्तेदारी से जुड़े होने के चलते पुरोहित ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं खड़े होंगे। शेष हिन्दू समाज की जातियाँ भी जाति प्रथा की समाप्ति के लिए तैयार नहीं होंगी। फिर वे अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriage) को इसका उपचार बताते हैं, लेकिन चूँकि यह धार्मिक सिद्धान्तों व आस्थाओं के प्रतिकूल है अतः लोगों के मानस को धर्म और शास्त्रों की जकड़ से मुक्त किये बिना यह सम्भव नहीं है। इस काम के लिए अम्बेडकर सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं सुझाते, बल्कि यह कहते हैं कि जाति प्रथा समाप्त करना लगभग असम्भव है और इसमें कई युग लग जायेंगे। सही है कि इसके बाद तो युगों तक इन्तज़ार का रास्ता ही बचता है। तब तक इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-रियायतों के लिए दबाव बनाया जाये और पूँजीवादी विकास (उद्योगीकरण) के साथ जाति-व्यवस्था का प्रभाव कम होते जाने का इन्तज़ार किया जाये।

धर्मान्तरण को भी एक उपाय के रूप में उन्होंने देखा और अन्तिम दिनों में बौद्ध बन गये। हालाँकि बहुत कम दलितों ने उनकी बात मानी, पर जिन्होंने मानी, उनकी सामाजिक स्थिति पर कोई फ़र्क नहीं पड़ा, बस 'नवबौद्ध' दलित जाति का एक प्रवर्ग बनकर रह गया। मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध के बारे में बौद्ध धर्म का जो भौतिकवादी नज़रिया था, उससे तो अम्बेडकर ने कुछ नहीं लिया, परन्तु व्यक्तिगत और सामाजिक आचार संहिता के सन्दर्भ में उसकी आधिभौतिक प्रत्ययवादी आख्यानों की एक भक्त की तरह विशद चर्चा की। यह किसी भी तरह से स्पष्ट नहीं होता कि बुद्ध के अष्टांग मार्ग पर आचरण करने से दलितों की सामाजिक स्थिति पर क्या फ़र्क पड़ेगा। उन्हें इतिहास के इस तथ्य की पता नहीं जानकारी थी या नहीं कि अस्पृश्यों की निम्न सामाजिक स्थिति बनाने में बौद्ध और जैन धर्मों की भी भूमिका थी और किसानों, दासों और स्त्रियों की दोयम सामाजिक स्थिति को वह भी मान्यता देते थे। बाद में जिन शासकों ने इसे अपनाया वे कम उत्पीड़क नहीं थे। अम्बेडकर का ध्यान पता नहीं इस ओर गया था कि नहीं कि फ़ासिस्ट (और आज का साम्राज्यवादी) जापान, क्रान्ति-पूर्व चीन और अन्य बौद्ध मतावलम्बी देश पूँजीवादी लूट-मार, अन्याय-अनाचार में किसी अन्य पूँजीवादी देश से कभी कम नहीं रहे। यह अम्बेडकर का विचित्र अन्तरविरोध था कि एक ओर तो वे पश्चिमी देशों की जनवादी व्यवस्था और संविधानवाद के कट्टर समर्थक, एडमण्ड बर्क के प्रशंसक और जॉन डेवी के अनुयायी थे, दूसरी ओर अन्ततोगत्वा सबसे अहम सामाजिक समस्या का समाधान उन्हें 2,000 साल पुराने, प्राचीन जनपदीय गणराज्यों के काल के एक धर्म में

दिखायी दिया। अम्बेडकर की पूरी इतिहास-दृष्टि पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है, पर इतना जरूर ही कहा जा सकता है कि अपने समय से 150 वर्ष पहले पैदा हुए पुनःस्थापन काल के इतिहासकारों – त्येरी, मिन्ये, गिज़ो और तियेर ही नहीं, बल्कि प्रबोधनकाल के दिदेरो, वॉल्लेयर, रूसो आदि से भी वे मीलों पीछे थे। यँ कहेँ कि उनकी इतिहास-दृष्टि भौँडेँ भाववाद और अटकलबाज़ी से अधिक कुछ नहीं थी। समाज के उत्पादन-सम्बन्धों के भौतिक आधार की पड़ताल के बजाय, वे जाति-व्यवस्था की जड़ सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) मानते हैं जिसे ब्राह्मणों ने शुरू किया (यानी वे जाति प्रथा के पहले से ही मौजूद थे)। इसी तरह, बौद्ध धर्म की उत्पत्ति का कारण वे आर्यों की सभ्यता की पतनशीलता बताते हैं। फिर बौद्ध धर्म के पराभव का भी कोई सामाजिक कारण नहीं बताते और बस यह नतीजा दे देते हैं कि बौद्ध धर्म पर विजय के बाद ब्राह्मणवाद की सत्ता और जाति-व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित हो गयी। ऊपर हम मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर इतिहास-चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य मात्र यह स्पष्ट करना है कि इतिहास, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र – इन सभी क्षेत्रों में अम्बेडकर का चिन्तन अमौलिक था, अगम्भीर था, अन्तरविरोधों से भरा था और बहुधा ग़लत था। मूलतः और मुख्यतः वे एक बुर्जुआ सुधारवादी थे (यह कहना उनकी हेठी करना नहीं, बल्कि उनके विचारों का प्रवर्ग निर्धारित करना है), एक प्रतिबद्ध संविधानवादी थे, इतिहास के निर्माण की कारक शक्ति वे जनता को नहीं बल्कि महापुरुषों और बुद्धिजीवियों को मानते थे तथा इतिहास-विकास के सुनिश्चित विज्ञान की खोज में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि वे मानते ही नहीं थे कि समाज-परिवर्तन के कुछ सुनिश्चित वस्तुगत नियम होते हैं। निश्चय ही दलित आबादी में जागृति पैदा करने में, कांग्रेसी नेतृत्व का एक हद तक पर्दाफ़ाश करने में और तत्कालीन समय में आरक्षण जैसा बुर्जुआ जनवादी अधिकार हासिल करने में उनकी सकारात्मक भूमिका थी। पर उनकी नकारात्मक भूमिकाओं की भी अनदेखी से दलित जातियों का कुछ भला होने वाला नहीं। आज अम्बेडकर को अप्रश्नेय बना देने, उन पर तर्कसंगत ढंग से बहस करने पर दलित-विरोधी होने का ठप्पा लगा देने और “संविधान निर्माता” अम्बेडकर को मसीहा बना देने से शासक वर्गों का ख़ूब हित-पोषण हो रहा है, अपनी मुक्ति और जाति-उन्मूलन की किसी क्रान्तिकारी परियोजना पर कोई संवाद या दलित आबादी तक कोई बात तक पहुँचाना दुष्कर होता जा रहा है, दलित आबादी सुधारों के भँवरजाल और बुर्जुआ संसदीय राजनीति की भूल-भुलैया में ही घूमती रह जा रही है और इस काम में सत्ता द्वारा सहयोजित दलित बुद्धिजीवियों की एक छोटी-सी आबादी बहुत अहम भूमिका निभा रही है। विचारों के विश्लेषण के विस्तार और गहराई में गये बिना जो

मार्क्सवादी बुद्धिजीवी और ग्रुप सार-संग्रहवादी (eclectic) ढंग से यहाँ-वहाँ से कुछ उद्धरण चुनकर या कम्युनिस्ट आन्दोलन को ही कोसकर ईसाई ढंग का कन्फेशन करते हुए अम्बेडकरवाद और मार्क्सवाद की अमूर्त खिचड़ी पकाने की भाँति-भाँति की तजवीजें पेश कर रहे हैं, वे जादुई बीन बजाकर सबको लुभा लेने का ख़्वाब पाले गगनविहारी लोग हैं। फिर अस्मितावाद की नयी बिरयानी परोसने वाले कुछ शातिर बुद्धिजीवी हैं। इनकी चर्चा आगे की जायेगी।

यहाँ अम्बेडकर पर चर्चा-समापन के बाद हम पेरियार की राजनीति पर आते हैं, जो उन्हीं के समकालीन थे। पेरियार का पूरा राजनीतिक जीवन नितान्त विसंगतिपूर्ण रहा। 1919 में शुरुआत उन्होंने कांग्रेस पार्टी की राजनीति से की फिर कांग्रेसी नेतृत्व पर स्वर्ण मानसिकता हावी होने और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन न चलाने के विरोधस्वरूप वे अलग हो गये। 1926 में उन्होंने 'आत्मसम्मान लीग' की स्थापना की और ब्राह्मणवाद और सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध सामाजिक आन्दोलन चलाये। वे कट्टर निरीश्वरवादी थे। 1932 में उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा की और लौटकर कुछ दिनों तक सिंगरावेलु शेट्टियार के साथ समाजवाद का प्रचार भी किया। पर कुछ ही दिनों बाद वे राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी हो गये, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उपस्थिति को शूद्र और दलित जातियों के लिए अनुकूल मानने लगे और 1934 में ब्रिटिश समर्थक जस्टिस पार्टी में शामिल हो गये। इसके बाद उन्होंने 'द्रविड़ कषगम' की स्थापना की। इतिहास के तथ्यों से परे, पेरियार की धारणा थी कि ब्राह्मण बाहरी आक्रान्ता आर्यों के वंशज हैं जबकि गैर-ब्राह्मण द्रविड़ मूल के लोग हैं। 15 अगस्त, 1947 को उन्होंने 'ब्राह्मणराज की स्थापना' का दिन मानते हुए शोक दिवस मनाया और जाति-उन्मूलन के प्रश्न पर मौन रहने के कारण 1957 में संविधान भी जलाया। पेरियार तर्कबुद्धिवाद के पक्षधर थे और समतामूलक समाज की बात भी करते थे, लेकिन व्यवहारतः उनकी राजनीति उत्तर-विरोध, हिन्दी-विरोध, ब्राह्मण-विरोध और धर्म-विरोधी प्रचार तक ही सीमित थी। भारतीय संघ में अधिक स्वतन्त्रता वाले पृथक तमिलनाडु की माँग वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले से ही करते आ रहे थे। लेकिन पेरियार के तर्कबुद्धिवाद और निरीश्वरवाद के विचार जातिभेद की समस्या का हल निकालने और दलितों की मुक्ति की दिशा में कुछ भी कारगर नहीं सिद्ध हो सके क्योंकि सामाजिक अन्तरविरोधों की उनकी समझ ग़लत थी और उनके पास कोई भी ठोस सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम नहीं था। उनका राजनीतिक व्यवहार भी इसीलिए अन्तरविरोधों से भरा था। उन्होंने नाडार जाति के कांग्रेसी मुख्यमन्त्री कामराज का समर्थन किया। जब द्रविड़ कषगम से ही निकली हुई द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम की अन्नादुरै सरकार शासन में आयी तो उन्होंने उसका समर्थन किया। पेरियार के

राजनीतिक जीवनकाल के प्रथम चरण का समय वह था जब तमिल क्षेत्रों में ब्राह्मणों का सामाजिक वर्चस्व कायम था, लेकिन गैर-ब्राह्मण जातियों में भी आर्थिक समृद्धि आ रही थी। इन्हीं जातियों के बीच से स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद धनी मालिक किसानों-कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों के वर्ग विकसित हुए, द्रमुक और अन्नाद्रमुक जैसी पार्टियाँ इन्हीं वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थीं और उत्तर-विरोध की राजनीति केन्द्र में सत्तारूढ़ बड़े पूँजीपतियों पर दबाव बनाने और सौदा करने में इनके लिए सहायक थी। इन पार्टियों का जनाधार जिन कथित शूद्र जातियों में था, वे दलित-उत्पीड़न में ब्राह्मणों से पीछे नहीं थीं। आगे चलकर इनमें से कई पार्टियाँ फूटकर निकलीं जिनका अलग-अलग जातियों में आधार था। इन पार्टियों को आपस में तथा कांग्रेस और भाजपा जैसी पार्टियों से जोड़-तोड़ और गठबन्धन करने में कभी कोई परहेज नहीं रहा। इनसे मोहभंग के बाद दलित जातियों की कई छोटी-छोटी पार्टियाँ भी उभरीं, पर वे भी कभी द्रमुक तो कभी अन्नाद्रमुक गठबन्धन में पुछल्ला बनने की ही भूमिका निभाती रहीं।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास और जाति-व्यवस्था

भारतीय पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना से जन्मा और साम्राज्यवादी विश्व में पला-बढ़ा एक ऐसा पूँजीपति वर्ग था जो न तो साम्राज्यवादी हितों को अधिक क्षति पहुँचा सकता था (निर्णायक विच्छेद तो नव-स्वाधीन देशों का रैडिकल से रैडिकल पूँजीपति वर्ग भी नहीं कर सकता था), न ही रैडिकल ढंग से बुर्जुआ भूमि-सुधारों का कार्यभार ही पूरा कर सकता था। अंग्रेजों से इसे एक एकीकृत देश का प्रशासन-तन्त्र और कानून व्यवस्था विरासत में मिली थी। एक मरियल बुर्जुआ संविधान भी इसने तैयार कर लिया था।

शुरू में इस पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजी का प्रभाव अधिक था, पर धीरे-धीरे इसने अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का इस्तेमाल करते हुए अपने आर्थिक विकल्पों का विस्तार किया और बेहतर से बेहतर शर्तों पर पूँजी, तकनोलॉजी हासिल करने की कोशिश की। फिर उसी तकनोलॉजी का भारतीयकरण करके अपनी तकनोलॉजी भी विकसित की। यहाँ के पूँजीपति वर्ग के पास पूँजी की कमी होने के कारण और विदेशी पूँजी का दबाव कम करने के लिए इसने जनता के खून-पसीने की कमाई निचोड़कर राजकीय पूँजीवादी दायरे में बुनियादी और अवरचनागत उद्योगों का ढाँचा खड़ा किया ताकि निजी

क्षेत्र में विकास तेज़ हो। यह 'इम्पोर्ट सब्स्टीट्यूशन इण्डस्ट्रियलाइज़ेशन' का रास्ता था। पूँजीपतियों को ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी मुहैया कराने के लिए बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया। समाज में खुशहाल मध्यवर्गीय संस्तरों के विकास के साथ ही शेयर बाज़ार से पूँजी का विपुल अम्बार जुटाने का मार्ग भी प्रशस्त होता चला गया। जब भारतीय पूँजीपति वर्ग की पूँजी की शक्ति काफ़ी बढ़ गयी तो राजकीय उद्यमों को उन्हें औने-पौने दामों पर सौंपने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। निजीकरण-उदारीकरण का यह दौर भारतीय पूँजीवाद की ज़रूरत, विवशता और बढ़े हुए आत्मविश्वास – तीनों का ही परिचायक था। नव-उदारवाद के इस दौर में संकटग्रस्त अन्तरराष्ट्रीय पूँजी ने भी संरक्षणवादी नीतियाँ समाप्त करने का पूरा दबाव बनाया। भारतीय पूँजीवाद ने एक ओर विशाल और सतत फैलते भारतीय बाज़ार में हिस्सा बाँटने के लिए साम्राज्यवादियों को ज़्यादा खुले मौके दिये, दूसरी ओर वह न केवल उनके साथ सहकार और प्रतिस्पर्धा करता रहा बल्कि भूमण्डलीकृत विश्व-बाज़ार में उसने स्वयं भी देश के बाहर क्रमशः ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी निवेश करना शुरू किया। भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति विश्व पूँजीवादी तन्त्र में साम्राज्यवादियों के 'जूनियर पार्टनर' की है। विश्व स्तर पर निचोड़े गये अधिशेष का यह बहुत छोटा हिस्सा पाता है, पर देश स्तर पर अधिशेष का बड़ा भागीदार आज भी यह खुद है। उत्तर-औपनिवेशिक और उत्तर-नवऔपनिवेशिक देशों में यह सापेक्षतः अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों वाले देशों की क़तार में खड़ा है।

ऐतिहासिक परिस्थितियों में भारतीय पूँजीपति वर्ग का जैसा चरित्र विकसित हुआ था, यह रैडिकल भूमि-सुधार करके छोटे-बड़े भू-स्वामियों के हितों पर निर्णायक चोट कर ही नहीं सकता था। इसलिए इसने जर्मनी के जुंकर-टाइप रूपान्तरण और रूस के स्तालिनपिन-टाइप भूमि-सुधारों का एक मिला-जुला भारतीय संस्करण भारत में लागू किया। इसने पुराने शोषकों को अवसर दिया कि वे अपने शोषण के तौर-तरीकों को बदल लें। जो पुराने राजे-रजवाड़े थे, उनकी रियासतें ले ली गयीं, पर अकूत सम्पत्ति, महल-बंगले, भू-सम्पत्ति छोड़ दी गयी। साथ ही दो दशकों तक उन्हें प्रिवी पर्स भी दिया गया। इस सम्पदा के बूते ज़्यादा राजे-रजवाड़े या तो होटल मालिक या उद्योगों के बड़े शेयर-होल्डर के रूप में देश के बड़े पूँजीपतियों की क़तार में 'स्लीपिंग पार्टनर' के रूप में शामिल हो गये, या फिर बड़े पूँजीवादी भू-स्वामी बन गये। ज़मींदारी उन्मूलन को धीमी गति से लागू करते हुए गाँवों के सामन्ती भू-स्वामियों को पूरा अवसर दिया गया कि वे अपना लगानजीवी चरित्र बदलकर बाज़ार के लिए पैदा करने वाले बुर्जुआ भू-स्वामी बन जायें, तीन-तिकड़म से हदबन्दी से अपनी ज़्यादा से ज़्यादा भूमि बचा लें या फिर शहरी उच्च मध्य वर्ग की क़तारों में शामिल हो जायें। जो पहले

के धनी और मध्यम काशतकार थे, उनका भी बड़ा हिस्सा खेतों का मालिक बनने के साथ ही पूँजीवादी किसान-कुलक बन गया। इनमें से ज़्यादातर मध्य जातियों के किसान थे – रेड्डी, कम्मा, थेवर, मराठा, जाट, कुर्मी, कुशवाहा, सैंथवार आदि इनके मात्र कुछ उदाहरण हैं। आर्थिक स्थिति ठीक होते ही इनके 'संस्कृतीकरण' की क्रिया भी आगे बढ़ी। बुर्जुआ पार्टियों में कुलकों-फार्मरों के ब्लॉक बने और क्षेत्रीय स्तर पर उनकी पार्टियाँ अस्तित्व में आयीं, जिनका चुनावी जनाधार तैयार करने में जाति सबसे अहम भूमिका निभाती थी। ये मध्य जातियों (कथित शूद्र जातियों) के किसान दलितों का उत्पीड़न करने में स्वर्ण पृष्ठभूमि के उन बुर्जुआ भू-स्वामियों से कहीं आगे थे जो पुराने सामन्ती भू-स्वामियों के वंशज थे।

तथाकथित हरी-सफेद क्रान्ति ने एक ओर गाँवों में पूँजी-प्रवेश और एग्री बिज़नेस के लिए उर्वर ज़मीन तैयार कर दी, दूसरी ओर पूँजीवादी भूस्वामियों-कुलकों को भी पूँजी की ताकत के हिसाब से अधिशेष निचोड़ने के प्रचुर अवसर दिये। 'एग्रो-बेस्ड और अलायड सेक्टर' का देशव्यापी विकास हुआ। शहर के धनिकों ने भी संचित पूँजी का खेती में निवेश किया। पूँजी-सघन आधुनिक खेती की प्रवृत्ति आगे बढ़ी। किसान आबादी का विभेदीकरण तेज़ हो गया। प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के रहे-सहे अवशेष और स्थानीय बाज़ार समाप्त हो गये और देश के सुदूरवर्ती कोने तक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़ गये। जहाँ पुरानी भूमि-काशकारी व्यवस्था थी, वह भी (जैसा कि मार्क्स और लेनिन ने भी स्पष्ट कहा था) पूँजीवादी विकास की राह की बाधा नहीं बनी। लगान (rent) का चरित्र यदि देखें, तो वह पूरी तरह से पूँजीवादी हो चुका है। कृषि में पूँजीवाद ने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो तोड़ दिया है या सहयोजित कर लिया है। प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों की मौजूदगी का दायरा सिकुड़ता चला गया। इस प्रवृत्ति ने गाँवों से बड़े पैमाने पर (लगातार बढ़ती रफ़्तार के साथ) मज़दूर आप्रवासन (labour migration) को जन्म दिया। औद्योगिक पूँजीपतियों के लिए सस्ती से सस्ती दरों पर श्रम-शक्ति खरीदना सुगम हो गया। औद्योगिक महानगरों की नारकीय मज़दूर बस्तियाँ अस्थायी, दिहाड़ी, कैजुअल, ठेका और पीस-रेट मज़दूरों से और भारी अर्द्ध-सर्वहारा आबादी से पट गयीं।

इस तरह विकास के एक मध्यम, विकृत-विरूपित, दुस्सह पीड़ादायी मार्ग से भारत में एक ऐसा पूँजीवाद विकसित हुआ, जिसने तमाम प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को या तो क्रमिक-प्रक्रिया में तोड़ दिया या अपने अधीनस्थ कर लिया, सहयोजित कर लिया। ऐसा पूँजीवाद स्वस्थ जनवादी मूल्यों-मान्यताओं के सृजन में सर्वथा असमर्थ था। इसका जनवाद स्वयं अतिसीमित और विकृत-विरूपित था। इसीलिए इसने प्राक्-पूँजीवादी मूल्यों-संस्थाओं के साथ

कोई छेड़छाड़ नहीं की। खाप पंचायतें और जाति पंचायतें बनी रहीं, जीवन पर रूढ़ियों की जकड़ बनी रही। यदि ये कुछ कमज़ोर हुई। तो इनके पीछे राज्य के सचेतन प्रयास या संविधान के अनुच्छेदों की नहीं बल्कि पूँजीवादी विकास की स्वतन्त्र वस्तुगत गति की भूमिका थी। सामाजिक जीवन में धर्म की दखलान्दाजी कम नहीं हुई है बल्कि कुछ ढीली मात्र पड़ी है। दूसरी ओर कुछ नये-नये आधुनिक पन्थ पैदा हुए हैं जो अन्धविश्वास और यथास्थितिवाद के प्रचार के प्रभावी माध्यम तो हैं ही, पूँजी संचय और निवेश के भी साधन हैं। पूँजीवादी समाज में जनता में धर्म की सत्ता का वस्तुगत आधार माल-उत्पादन की अदृश्य शक्ति है और धर्म आज भी शासक वर्ग के राजनीतिक वर्चस्व में सहायक अतिप्रभावी अधिरचनात्मक उपकरण है। लेकिन जाति-व्यवस्था का सवाल केवल अधिरचनात्मक धरातल से जुड़ा हुआ नहीं है। पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों के साथ यह गहराई से गुँथी-बँधी है, तन्तुबद्धीकृत हो गयी है। मामला केवल सामन्ती अवशेष या सामन्ती अधिरचना के प्रभावशाली बने रहने का ही नहीं है। जातिगत मूल्यों-मान्यताओं, पार्थक्यों-पूर्वाग्रहों का नया आर्थिक आधार तैयार हुआ है।

इसका कारण यह है कि आबादी के विभिन्न हिस्सों के जातिगत समीकरण को तोड़े बिना पूँजीवादी उत्पादन एवं वितरण व्यवस्था ने अपना प्रभुत्व कायम किया है। जैसे, जो पुराने सवर्ण हैं, आज नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर उनका लगभग वर्चस्व है और अपने साझा हितों की रक्षा के लिए जाति उनकी एकता का एक सूत्र बनती है। प्रतिकार-स्वरूप जो दलित या पिछड़ी जातियों के अफ़सर-क्लर्क और स्वतन्त्र बौद्धिक हैं वे जातिगत आधारों पर ब्लॉक बनाकर संगठित होते हैं। गाँवों में जो सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी हैं और मध्य जाति के कुलक-फार्मर हैं, वे दलित मज़दूरों और ग़रीब किसानों को दबाने के लिए जातिगत गोलबन्दी करते हैं। इस जातिगत गोलबन्दी का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सवर्ण ग़रीब और मध्य जातियों के ग़रीब भी अपने सजातीय शोषकों के साथ सक्रिय या निष्क्रिय पक्षधरता के स्तर पर जा खड़े होते हैं। दलित भी अपनी पहचान और स्वाभिमान के सवाल पर, या प्रतिरक्षात्मक एकजुटता के लिए अम्बेडकर की विरासतदार किसी पार्टी के नेता के पीछे जा खड़े होते हैं।

शहरों में स्थिति थोड़ी भिन्न है। पर जातिगत पार्थक्य यहाँ भी मौजूद है और उसका भौतिक आधार भी है। बेहतर जीवन-स्थिति वाले संगठित मज़दूरों की आबादी में दलितों का अनुपात बहुत कम है। असंगठित मज़दूरों में उनकी बड़ी संख्या है, पर वहाँ भी 'अस्वच्छ' माने जाने वाले सभी कामों पर उन्हीं का एकाधिकार है। इसके अतिरिक्त ज़्यादातर कठिन और कम दिहाड़ी वाले काम उन्हें करने होते हैं। सरकारी नौकरियों में भी सफ़ाईकर्म दलित ही होते हैं।

आरक्षण से दस प्रतिशत दलित आबादी लाभान्वित हुई है पर नौकरियों में ऊपर की ओर उनकी प्रतिशत भागीदारी घटकर एक और दो प्रतिशत तक पहुँच जाती है। प्रशासन, सेना, पुलिस, न्यायपालिका और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशे – सभी जगह यही स्थिति है। उनके समकक्ष यदि किसी समुदाय की स्थिति है तो वे मुसलमान हैं जिनका अधिसंख्य भाग बेहद ग़रीब है और ज़्यादातर स्वतन्त्र दस्तकारी पेशे में लगे हुए हैं।

कारखानों में काम करने वाले मजदूरों में सवर्ण और मध्य जातियों के ऐसे मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या है जो गाँवों से पूरी तरह उजड़ी नहीं है। गाँवों में उनकी थोड़ी-बहुत खेती बची हुई है, उस घाटे की खेती को वे अपनी मजदूरी से जिलाये रखते हैं। ऐसे मजदूरों के सर्वहारा चरित्र में किसानी मिलावट साफ़ दिखती है, जो उनकी वर्ग चेतना को कुन्द करती है और जातिगत पूर्वाग्रहों को बनाये रखती है। ज़्यादातर दलित मजदूर या तो गाँवों से पूरी तरह उजड़े होते हैं या जुड़े भी होते हैं तो गाँव में उनके परिवार की स्थिति ग्रामीण सर्वहारा या अर्द्ध-सर्वहारा की ही होती है। लेकिन जातिगत पार्थक्य और अपमान उनके भीतर भी जातिगत आधार पर एकजुट होने की चेतना पैदा करता है। गाँवों जितना तो नहीं, लेकिन शहरों में भी दलित जातियों का आवासीय पृथग्वासन (apartheid) स्पष्ट दिखता है – मजदूर बस्तियों में ही नहीं, मध्य वर्ग में भी। आवासीय सहकारी सोसाइटियों में दलितों और मुसलमानों का सदस्य बन पाना असम्भवप्रायः होता है। किराये पर मक़ान मिलने में भी सबसे बड़ी बाधा महानगरों तक में जाति की (या धर्म की) आती है।

भारत की बुर्जुआ संसदीय राजनीति आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम से तो एकदम नहीं चलती है, पूँजी के खुले खेल और कुछ सस्ते लोकरंजक वायदों या सामयिक भावनाओं की लहर के सहारे चलती है, पर इसका सबसे प्रमुख स्तम्भ समाज में जातिगत ध्रुवीकरण है। बुर्जुआ पार्टियाँ नीतियों से किसी जाति की नहीं, बल्कि समूचे शासक वर्गों की सेवा करती हैं। उनमें बड़े-छोटे पूँजीपतियों, कुलको-भूस्वामियों के ब्लॉक होते हैं, कुलकों और क्षेत्रीय पूँजीपतियों की क्षेत्रीय पार्टियाँ भी होती हैं, उनके वर्ग-हितों के आपसी टकराव होते हैं, पर आम बुर्जुआ आर्थिक नीतियों और संसदीय प्रणाली पर उनकी आम सहमति होती है। लेकिन जातिगत समीकरणों का लाभ उठाने के लिए हर बड़ी बुर्जुआ पार्टी में अलग-अलग जातियों के नेता होते हैं और चुनाव क्षेत्रों में जनसंख्या में जातियों का अनुपात देखकर उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं। जो क्षेत्रीय पूँजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियाँ हैं, उनका तो मुख्य वोट बैंक ही मध्य जातियों के बीच है। दलित प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली जितनी भी संसदीय पार्टियाँ हैं, वे नीतियों के स्तर पर धुर अवसरवादी

पार्टियाँ हैं, उनकी नेताशाही में खुशहाल दलित मध्यवर्ग स्थान पाता है, दलित नौकरशाह और बुद्धिजीवी इनमें से इस या उस पार्टी को समर्थन और वैचारिक आधार देते हैं और सहस्राब्दियों से उत्पीड़ित दलित आबादी को जातिगत आधार पर ये अपना वोट बैंक बनाते हैं। ये पार्टियाँ रैडिकल तेवर लेकर नयी उम्मीदें जगाती हैं और मौका आने पर कांग्रेस, भाजपा या किसी भी दल से गठबन्धन करने को तैयार रहती हैं। गठबन्धनों की बुर्जुआ राजनीति में इनकी भूमिका तराजू के इस या उस पलड़े पर चढ़ने वाले बटखरे की होती है। “सत्ता में दावेदारी के बल पर” उत्पीड़न-अपमान की सामाजिक स्थिति से निजात पाने का राजनीतिक तर्क साठ वर्षों में यहीं तक पहुँचा है, जिस पर अस्मिता राजनीति (Identity politics) के वैचारिक खोमचे वाले दलित अस्मिता के उभार का सभागृहों में चाहे जितना जश्न मना लें, आम बहुसंख्यक मेहनतकश दलित आबादी को हासिल कुछ नहीं होने वाला है। न हुआ है, न होगा।

जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और ‘मूलाधार-अधिरचना’

रूपक : मार्क्सवादी सूत्रीकरण

स्वतन्त्र भारत में जाति प्रश्न पर कम्युनिस्ट आन्दोलन की सोच और भूमिका की चर्चा और दलित प्रश्न पर कुछ “दलितवादी/अम्बेडकरवादी-मार्क्सवादी” तथा कुछ नयी दलितवादी विचार-सरणियों की समालोचना प्रस्तुत करने से पहले ज़्यादा उचित यह होगा कि हम जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्ध और मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में सकारात्मक रूप से अपनी अवस्थिति प्रस्तुत करें।

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की यह बुनियादी समझ है कि उत्पादन-सम्बन्धों के तीन पहलू होते हैं : (i) स्वामित्व का स्वरूप, (ii) उत्पादन में लोगों की भूमिका और उनके आपसी सम्बन्ध (श्रम-विभाजन), और (iii) उत्पाद के वितरण का स्वरूप। इन तीनों ही दृष्टियों से प्राचीन भारत से लेकर परवर्ती मध्यकाल (उपनिवेशीकरण से पूर्व) तक जाति-व्यवस्था, उत्पादन-सम्बन्ध का ही एक रूप थी। यँ कहें कि सापेक्षिक आन्तरिक गतिशीलता और कुछ जातियों के ‘संस्कृतीकरण’ के बावजूद, इस लम्बी अवधि तक जाति-व्यवस्था ही उत्पादन-सम्बन्ध थी। मुसलमानों के आने के बाद स्थिति में थोड़ा बदलाव आया, जाति-व्यवस्था का ही एक प्रतिरूप उनमें भी विकसित हो गया। एक हद तक यही सिख धर्म के साथ भी हुआ। यानी जाति-व्यवस्था मध्यकाल तक समाज का आर्थिक मूलाधार थी और राजनीतिक-धार्मिक-सामाजिक अधिरचना उससे सापेक्षिक अनुरूपता रखती थी, यानी सामाजिक

जीवन में जातिभेद के मूल्य निर्णायक भूमिका निभाते थे। कहा जा सकता है कि जाति-समूहों का जो वर्णक्रम (spectrum) था, वह वर्गों के वर्णक्रम को कमोबेश पूरी तरह अतिच्छादित (overlap) करता था। जाति-समूहों की स्थितियों, वंशानुगतता और अन्तःजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) के चलते अचल या अपरिवर्तनीय वर्गों की थी। यह स्थिति रूढ़ और कठोर श्रम-विभाजन से पैदा होती थी और इस मायने में दुनिया के किसी भी समाज के वर्ग-विभाजन से भिन्न थी। मुसलमानों और सिखों की स्थिति थोड़ी भिन्न थी, पर हिन्दू धर्म मानने वालों में तो जाति-समूह ही वर्ग थे जिनमें दलित जातियाँ भूमिहीन मेहनतकश थीं, मध्य जातियाँ किसान थीं, वणिक जातियाँ व्यापारी थीं और सवर्ण जातियाँ भू-स्वामी वर्ग और बौद्धिक वर्ग में बँटी थीं।

औपनिवेशिक आर्थिक-सामाजिक संरचना में, विशेषकर उद्योग-धन्धों और प्रशासन-तन्त्र और विविध नागर पेशों के विकास के बाद, पहली बार थोड़ी हलचल हुई। जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्ग-समूहों के वर्णक्रम एक-दूसरे को लगभग पूरी तरह से अतिच्छादित करने के बजाय कुछ हद तक स्थानान्तरित हो गये। ज़्यादातर सवर्ण अब भी भू-स्वामी थे और बौद्धिक समुदाय सहित जो निम्न बुर्जुआ वर्ग विकसित हुआ वह उन्हीं के बीच से था। पर दलितों और मध्य जातियों के भीतर से भी पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के विभिन्न संस्तर पैदा हुए, हालाँकि इनका अनुपात बहुत ही कम था। ज़्यादातर मध्य जातियाँ रैयत-काश्तकार थीं और दलित जातियाँ खेत मजदूर और अन्य 'नीचा' और 'अस्वच्छ' काम करने वाली कामगार जमातों में आती थीं। दूसरी ओर, उद्योग-धन्धों में धीरे-धीरे उजड़े सवर्णों और मध्य जाति के तबाह काश्तकारों का भी प्रवेश हुआ और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती चली गयी। गाँवों में उस समय भी श्रम-विभाजन और सम्पत्ति-सम्बन्धों का जातिगत आधार अधिक मजबूत था। इस तरह जाति और वर्ग के अतिच्छादन की स्थिति विघटित होने लगी। यानी, जाति-व्यवस्था अब भी आर्थिक मूलाधार (उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग) का अंग थी, पर वही अकेले आर्थिक मूलाधार नहीं रह गयी थी। जहाँ तक अधिरचना का प्रश्न है, वह मुख्यतः और मूलतः सामन्ती अधिरचना बनी रही जिसका मुख्य आधार अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्ध थे। जो मरियल पूँजीवादी विचार और संस्थाएँ जन्मीं, उनमें जाति-व्यवस्था को प्रभावित करने की ताकत नहीं थी। पढ़े-लिखे निम्न बुर्जुआ वर्ग के लोग जो सामाजिक आधार के कुछ क्षेत्रों में आधुनिक थे, वे भी धार्मिक आचारों का न केवल निष्ठापूर्वक पालन करते थे बल्कि सजातीय विवाह (Endogamy, Intracaste marriage) और जातिगत भेदभाव की परम्पराओं में आस्था रखते थे। यह चर्चा हम ऊपर कर आये हैं कि हिन्दू धर्म और जाति-व्यवस्था से छेड़छाड़ न करना औपनिवेशिक सत्ता की सचेतन नीति थी।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सर्वतोमुखी पूँजीवादी विकास ने स्थिति में काफी बदलाव पैदा किये। उद्योग-धन्धों के व्यापक फैलाव के साथ ही एक विशाल सेवा-क्षेत्र भी विकसित हुआ और भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण ने किसान आबादी के विभेदीकरण, सर्वहाराकरण और ग्रामीण आबादी के आप्रवासन को लगातार तीव्र से तीव्रतर बनाने का काम किया। जाति और वर्ग के परस्पर अन्तर्भेदन और अन्तर्ग्रन्थन की स्थिति बनी। सवर्ण जातियाँ ही अभी भी नौकरशाही और स्वतन्त्र बौद्धिक पेशों पर हावी हैं, लेकिन इन क्षेत्रों में दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों की भी दखल हुई है। भू-स्वामी, कुलक और फार्मर मुख्यतः सवर्ण और मध्य जातियों के लोग हैं, पर मध्य जातियों के निम्न मध्यम और छोटे किसान भी हैं और मजदूर भी हैं। मध्य जातियों की बड़ी आबादी मध्यम और छोटे किसानों की ही है। दलितों की 90 फीसदी आबादी गाँव और शहर की सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी है, पर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी का बहुसंख्यक दलित नहीं है। हाँ, कथित 'अस्वच्छ' काम अभी भी दलितों के जिम्मे है। दस्तकारी का सेक्टर एकदम सिकुड़ गया है, पर उसमें अभी भी "कमीन" मुस्लिम जातियाँ और दलित-अतिपिछड़ी दस्तकार जातियाँ ही काम करती हैं, अन्य जातियों की दखल नगण्य है। इस स्थिति को किस रूप में सूत्रबद्ध किया जाये? 'उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग' (आर्थिक मूलाधार) में एक हिस्सा अभी भी जातिगत श्रम विभाजन का और जातिगत स्वामित्व के रूपों का है। यानी जाति-व्यवस्था अभी भी मूलाधार का एक हिस्सा है, पर एक छोटा हिस्सा है। हाँ, अधिरचनात्मक धरातल पर अभी भी उसकी प्रबल मौजूदगी है, प्रभावी मौजूदगी है। अभी भी आधुनिक मूल्यों और जनवादी मूल्यों के चलते बनी हुई स्त्रियों की बर्बर पराधीनता और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली से नयी पौष्टिक खुराक पाये धार्मिक मूल्यों-मान्यताओं के चलते अन्तरजातीय (intercaste) शादियाँ विरल होती हैं, अन्तःजातीय (intracaste) शादियाँ ही प्रमुख प्रवृत्ति हैं। समान आर्थिक स्थिति वाली अलग-अलग जातियों में विवाह कठिन होते हैं। 'ऑनर किलिंग' और खाप पंचायतों-जाति पंचायतों की निरंकुश सत्ता ऐसी वस्तुगत सच्चाइयाँ हैं जो बुर्जुआ संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकार को भी कागज़ी बना देती हैं। यानी जाति-व्यवस्था आर्थिक मूलाधार का तो एक छोटा हिस्सा है, लेकिन अधिरचना के धरातल पर एक सामाजिक ढाँचे के रूप में रूढ़ और मजबूत रूप में बनी हुई है। यह केवल पुरानी जड़ता की शक्ति से ही नहीं बची हुई है, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था ने इसे नयी ऊर्जा दी है। अस्पृश्यता और रोज़मर्रा के दमन के रूप कम बचे हैं, लेकिन दलितों का सामाजिक पार्थक्य और अपमान अभी भी बरकरार है और उन पर अत्याचार की बर्बर घटनाएँ घटती रहती हैं। गाँवों में प्रायः सवर्ण पूँजीवादी भू-स्वामी और उनसे भी अधिक मध्य जातियों

के कुलक दलित मजदूरों पर अत्याचार करते हैं और फिर जातिगत गोलबन्दी करके अपनी स्थिति मजबूत बना लेते हैं। दलित मेहनतकशों के पक्ष में अन्य जातियों के मेहनतकश नहीं आते। इस तरह आर्थिक हितों के टकराव पर जातिगत रंग चढ़ जाता है। वर्ग संघर्ष की अन्तर्वस्तु होती है और उसकी विरूपित अभिव्यक्ति जाति संघर्ष के रूप में होती रहती है। चूँकि सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामी सत्ता के छोटे भागीदार हैं, अतः उन पर कानूनी कार्रवाई खानापूति के नाम पर या चुनावी राजनीति की विवशता के चलते ही होती है। जो निरंकुश खाप पंचायतें हैं, उनकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (जैसाकि न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव के सिद्धान्तकारों जैसे कुछ नव-मार्क्सवादी समझते हैं), वे बुर्जुआ राष्ट्र-राज्य के मजबूत सामाजिक अवलम्ब हैं, बुर्जुआ राजनीति से नाभिनालबद्ध हैं। जैसा कि ऊपर हम चर्चा कर चुके हैं, बुर्जुआ संसदीय राजनीति में वोट बैंक का सारा खेल जातिगत और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण पर खेला जाता है, फिर अपनी पारी में यह खेल जातियों के पारस्परिक वैमनस्य को और पार्थक्य को बढ़ाकर जाति के सामाजिक ढाँचे को मजबूती देता है, जिसका शिकार, ज़ाहिर है कि, सबसे अधिक दलित जातियाँ होती हैं। गाँवों में जहाँ जाति-व्यवस्था वर्ग संघर्ष को विरूपित-विकृत बनाती है और व्यापक मेहनतकश एकता को तोड़ती है, वहीं शहर में भी मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता में यह एक बाधा बनती है। हालाँकि गाँवों की तरह यहाँ यह प्रमुख बाधा नहीं है। हाल के वर्षों में असंगठित मजदूरों के जितने भी स्वयंस्फूर्त या संगठित संघर्ष हुए, उनमें कहीं भी जातिगत भेदभाव एकता की समस्या बनकर नहीं आया। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जातिगत भेदभाव और पार्थक्य की दीवारें शहरी मजदूरों के बीच भी हैं और बुर्जुआ पार्टियों के ट्रेड-यूनियन नेता उनका इस्तेमाल करते हैं। दूसरी बात यह कि कथित 'अस्वच्छ' कामों में लगे दलित मजदूर एकदम अलग-थलग होते हैं — संघर्षों में भी और सामाजिक जीवन में भी।

सारे ब्योरे को समेटकर सूत्रवत यह कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था भारतीय पूँजीवाद के आर्थिक मूलाधार का आज भी एक हिस्सा है और सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना के स्तर पर इसकी मौजूदगी प्रचण्ड रूप से प्रभावी है। यह प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना या उसका अवशेष नहीं है। यह एक पूँजीवादी अधिरचना है। यह एक पूँजीवादी जाति-व्यवस्था है। जाति-व्यवस्था पूँजीवाद द्वारा तन्तुबद्ध ढंग से सहयोजित कर ली गयी है। हेगेलीय शब्दावली का इस्तेमाल करें, तो कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था का उत्सादन (sublation) हो गया है, यानी निम्न स्तर की परिघटना (phenomenon) से यह उच्च (संश्लिष्ट) स्तर की परिघटना बन गयी है जिसमें पूर्ववर्ती विकास की अन्तर्वस्तु संसाधित रूप में

उपस्थित है। जाति-समूहों और वर्गों के वर्णक्रम के छोटे हिस्से अभी भी एक-दूसरे को अतिच्छादित करते हैं।

जाति के प्रश्न पर कुछ ग़लत और कुछ अधूरे-अधकचरे सूत्रीकरणों के बारे में

उत्पादन-सम्बन्ध और सामाजिक अधिरचना के सन्दर्भ में जाति और वर्ग के अन्तर्सम्बन्धों का सटीक मार्क्सवादी सूत्रीकरण कम्युनिस्ट आन्दोलन के आधिकारिक दस्तावेजों में और लेखों में शुरू से लेकर संशोधनवाद के पूरे दौर तक देखने को नहीं मिलता, बस कुछ सामान्य ब्योरे और कार्यभारों की चर्चा मिलती है। 1970 के दशक में कभी लिखे गये अपने लेख **जाति, वर्ग और सम्पत्ति सम्बन्ध** में **बी.टी. रणदिवे** भी शीर्षक में उल्लिखित बात को ही सैद्धान्तिक रूप से सूत्रीकृत करने से बच निकले हैं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जाति और उत्पादन-सम्बन्धों को लेकर कोसम्बी, आर.एस. शर्मा और इरफ़ान हबीब जैसे इतिहासकारों ने स्पष्ट और काफी हद तक सटीक सूत्रीकरण दिये हैं, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक भारत में पूँजीवादी विकास के बाद इन्हें समझने की कोशिश काफी देर से शुरू हुई। गत शताब्दी से लेकर अब तक इस प्रश्न पर विभिन्न कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी गुपों ने काफी लिखा है, और नवमार्क्सवादी-उत्तरआधुनिक मार्क्सवादी “विचारकों” ने भी काफी विमर्श किया है। कम्युनिस्ट-क्रान्तिकारी गुपों के सूत्रीकरण में यान्त्रिकता और मार्क्सवाद-विरोधी अवस्थितियों की भरमार है तथा काफी भ्रमोत्पादक बातें हैं। दूसरी ओर, नव-मार्क्सवादी गिरोह ने जो घोल-मट्टा किया है, वह तो एक “नया मार्क्सवाद” गढ़ने के द्रविड़ प्राणायाम से अधिक कुछ नहीं है। यहाँ कुछ प्रतिनिधि प्रवृत्तियों की ही चर्चा सम्भव है, अतः हम वही करेंगे।

सबसे पहले हम भाकपा (मा.ले.) (लिबरेशन) के दिवंगत महासचिव विनोद मिश्र के एक सूत्रीकरण को लेते हैं जो मूलाधार और अधिरचना की बुनियादी मार्क्सवादी समझ को ही उलट-पुलट देता है। ‘लिबरेशन’ के अप्रैल 1994 के अंक में **थॉमस मैथ्यू** की पुस्तक **Caste and Class Dynamics – Radical Ambedkarite Praxis** की समालोचना लिखते हुए वे अम्बेडकरवादी-मार्क्सवाद के एक संस्करण के बारे में, ‘दलित जनवादी क्रान्ति’ की अवधारणा के बारे में और अम्बेडकर के बारे में कई सही आलोचनाएँ रखते हैं, पर साथ ही कुछ आश्चर्यजनक प्रस्थापनाएँ भी देते हैं। इसमें एक जगह वे लिखते हैं : “अतः वर्ग बुनियादी प्रवर्ग है। कुछ विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों में यह अपने को जाति के रूप में अभिव्यक्त करता है, कुछ दूसरी परिस्थितियों में दोनों परस्पर गुँथे होते हैं, परस्पर अतिच्छादित होते हैं और साथ ही एक-दूसरे

को आड़े-तिरछे काटते होते हैं, और फिर एक दूसरी परिस्थिति में जातियाँ विघटित होकर वर्गों में क्रिस्टलीकृत (Crystalise) हो जाती हैं। इस तरह दोनों के बीच एण्टी-थीसिस तब तक चलता है जब तक कि वितरण की प्रणाली के विनियामक (regulator) के रूप में जाति का उन्मूलन नहीं हो जाता।”

यहाँ हमें पता चलता है कि जाति श्रम-विभाजन या सम्पत्ति-सम्बन्ध में नहीं है, बल्कि वितरण की प्रणाली का विनियामक है। अब प्रश्न आता है कि इस “विनियामक” को कहाँ रखें, वितरण की प्रणाली के अंग के रूप में आर्थिक मूलाधार में या उसके बाहर। इसका उत्तर वे तब देते हैं जब अपनी समालोचना के मैथ्यू द्वारा दिये गये उत्तर पर पुनः ‘लिबरेशन’ के जनवरी 1995 अंक में टिप्पणी लिखते हैं। इसमें वे कहते हैं : “मेरे विचार से, जाति प्रथा अपने आप में एक सुनिश्चित उत्पादन-प्रणाली और तदनु रूप उत्पादन-सम्बन्धों के स्तर की उपज है। वर्ग-सम्बन्ध यहाँ जातियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिसे, अपनी पारी में, पुरोहितों द्वारा दैवी स्वीकृति दे दी जाती है। फिर भी, उनका ‘स्थायित्व’ मुख्यतः किसी दैवी स्वीकृति द्वारा नहीं, बल्कि ग्राम-समुदायों के गतिहीन सामाजिक संगठन द्वारा तय होता है जो कि उत्पादन-सम्बन्धों के एक सुनिश्चित स्तर की ही उपज होता है। जाति और वर्ग यहाँ एक स्पष्ट सामंजस्य में दिखते हैं। वर्ग और जाति के बीच का यह सामंजस्य, मूलाधार और अधिरचना की यह अनुरूपता स्पष्ट है क्योंकि दोनों सर्वथा पृथक प्रवर्ग हैं जिनकी जड़ें क्रमशः मूलाधार और अधिरचना में, उत्पादन की प्रणाली और वितरण के विनियमन में हैं।” (अनुवाद हमारा)

अब तक, विशेषकर मार्क्स की कृति राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान की प्रस्तावना के प्रसिद्ध उद्धरण से हम यही जानते थे कि मार्क्स आर्थिक मूलाधार उत्पादन-प्रणाली को नहीं, बल्कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को मानते थे। उत्पादन-प्रणाली उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों की एकता को कहते हैं जो काल-विशेष में उत्पादन के साधनों और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन के अर्जित स्तर को दर्शाता है। उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों का द्वन्द्व ही वर्ग समाज का बुनियादी अन्तरविरोध है। उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार बताने का घाल-मेल तो बहुतेरे मार्क्सवादी करते हैं। लेकिन विनोद मिश्र सबसे “मौलिक” प्रस्थापना यह देते हैं कि उत्पादन-प्रणाली को मूलाधार और वितरण के विनियमन को अधिरचना बताते हैं। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का ककहरा बताता है कि स्वामित्व के रूप, उत्पादन में लोगों की भूमिका एवं आपसी सम्बन्ध और उत्पाद के वितरण का स्वरूप – ये तीनों उत्पादन-सम्बन्धों के ही तीन पहलू हैं। विनोद मिश्र ने वितरण के विनियमन (यानी स्वरूप) को अधिरचना के खाने में

डालकर नया मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र रचा है, जबकि मार्क्सवाद अब तक अधिरचना के दायरे में राजनीतिक-वैधिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं और सामाजिक चेतना (विचारधारा, मूल्य आदि) के निश्चित रूपों को ही रखता रहा है। मार्क्स ने भी ऐसा ही लिखा था, यानी, विनोद मिश्र की ग़लतियों की श्रृंखला इस प्रकार बनती है : उत्पादन-प्रणाली (उत्पादन-सम्बन्ध + उत्पादक शक्तियाँ) मूलाधार है (ग़लत), वितरण का विनियमन अधिरचना है (ग़लत), जाति का सम्बन्ध उत्पादन की प्रणाली से नहीं, बल्कि वितरण के विनियमन मात्र से है (यह भी ग़लत)। अब वे सुगमता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वर्ग और जाति का द्वन्द्व मूलाधार और अधिरचना का द्वन्द्व है। आगे वे लिखते हैं : “जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियों का विकास होता है, और उत्पादन-प्रणाली में धीमी गति से बदलाव आता है, सामंजस्य टूट जाता है, वर्ग और जाति, मूलाधार और अधिरचना परस्पर टकराव की स्थिति में आ जाते हैं, प्रत्येक दूसरे को परिभाषित करने की कोशिश करने लगता है।” (अनुवाद हमारा)

अब यहाँ यह भी ध्वनित होता है कि वर्ग मूलाधार में अवस्थित है (और जाति अधिरचना में)। फिर एक भ्रान्ति। कई और लोग भी यह ग़लती करते हैं कि वर्ग को आर्थिक प्रवर्ग मात्र बताते हैं या उसे ही मूलाधार बता देते हैं। वर्ग एक बुनियादी सामाजिक प्रवर्ग है। उत्पादन-सम्बन्ध उसके जन्म और निर्धारण के कारक हैं। लेनिन के शब्दों में “वर्ग लोगों के बड़े-बड़े गुणों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से (अधिकांश मामलों में क़ानूनों में निश्चित तथा प्रतिपादित), श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के अपने भाग की प्राप्ति तथा आकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्ग लोगों के वे गुण हैं जिनमें से एक गुण सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित पद्धति में अपने स्थान की बदौलत दूसरे गुण के श्रम को हथिया सकता है।” (लेनिन, कलेक्टेट वर्क्स, खण्ड 29, पृष्ठ 421)। उपरोल्लिखित पुस्तक की प्रसिद्ध प्रस्तावना में जैसा मार्क्स ने लिखा था, “अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं जो लाज़िमी होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं।” इन सम्बन्धों को कायम करने के बाद मनुष्य वर्गों में बँट जाते हैं। वर्ग अपनेआप में उत्पादन-सम्बन्ध नहीं हैं कि उसे ही मूलाधार कह दिया जाये।

नव-मार्क्सवादियों की एक धारा तो मूलाधार-अधिरचना रूपक को ही यान्त्रिक बताकर ख़ारिज कर देती है और जाति या जेण्डर जैसे प्रश्नों को समझने के लिए उसे नाकाफ़ी बताती है।

इस धारा के दो प्रतिनिधियों, सुभाष गाताडे और उमाशंकर के एक लेख

दलित मुक्ति का प्रश्न ('सन्धान-1' में प्रकाशित, चण्डीगढ़ में साझा सांस्कृतिक अभियान की संगोष्ठी में पठित पेपर) इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है। वर्ग और जाति के प्रश्न पर जब वे आते हैं तो पहले तो लगता है कि विचारक-द्वय को शिकायत आर्थिक मूलाधार और अधिरचना की यान्त्रिक समझदारी से तथा वर्ग-संघर्ष की अर्थवादी समझ से है। पर बाद में स्पष्ट हो जाता है कि वे इन चीजों को ही खारिज करने के उद्देश्य से प्रेरित हैं। उनकी तर्कप्रणाली देखिये। वे बताते हैं कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक धरातल (phenomenal level) होता है और एक अन्तरभूत संरचनात्मक धरातल (structural level) होता है। ऐन्द्रिक गोचरता (sense perception) से हम संरचनात्मक धरातल तक सीधे नहीं पहुँच सकते। इसके लिए अमूर्तन (abstraction) की प्रक्रिया से गुज़रना होता है। आगे वे बताते हैं कि उत्पादन-प्रणाली एक अन्तरभूत सामाजिक संरचना है और उससे संरचनात्मक स्तर पर सम्बन्ध होने के चलते वर्ग एक संरचनात्मक अवधारणा है, महज़ एक आर्थिक अवधारणा नहीं। सामाजिक संरचना जितनी जटिल होती है, उसका संरचनात्मक स्तर उतने ही गहरे में छिपा होता है और परिघटनात्मक सतह तक पहुँचते-पहुँचते उसका प्रभाव उतने ही अधिक जटिल और वैविध्यपूर्ण गुणों को जन्म देता है। अन्तिम निष्कर्ष यह है कि आज के पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की जटिल बनावट में "संरचनात्मक स्तर का वर्ग संघर्ष प्रत्यक्ष और अलग से प्रगट नहीं होगा। वह प्रायः सामाजिक संघर्षों के उलझे और विविध रूप में ही सामने आयेगा।" यानी, वर्ग संघर्ष अब जाति, जेण्डर और पर्यावरण आदि पर केन्द्रित सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही होगा।

इस नतीजे तक पहुँचने के लिए पहले तो मार्क्सवादी ज्ञान-मीमांसा का ककहरा पढ़ाया गया है। हर मार्क्सवादी जानता है कि हर चीज़ का एक परिघटनात्मक स्तर होता है, प्रतीति (appearance) का स्तर होता है और ऐन्द्रिक गोचरता के द्वारा हम उस चीज़ के बोध या इन्द्रियग्राह्यता (perception) के धरातल तक पहुँचते हैं। दूसरा धरातल संरचनात्मक धरातल होता है, सारवस्तु का धरातल होता है, जहाँ तक हम अमूर्तन की क्रिया से गुज़रकर पहुँचते हैं, यह धारणा (conception) या बुद्धिसंगत ज्ञान (conceptual knowledge) की मंजिल होती है। यहाँ तक तो ठीक है। घपला इसके आगे है। प्रकृति और समाज की हर चीज़ का एक संरचनात्मक और एक परिघटनात्मक धरातल होता है। ऐसा नहीं है कि वर्ग संघर्ष संरचनात्मक अवधारणा है जिसका परिघटनात्मक स्तर सामाजिक आन्दोलन हैं। वर्ग का एक परिघटनात्मक स्तर (बोध का स्तर) है, एक संरचनात्मक स्तर (धारणा का स्तर) है। उत्पादन-प्रणाली का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जाति का एक परिघटनात्मक स्तर है और एक संरचनात्मक स्तर है। जब एक आम आदमी कहता है कि हम

मजदूर हैं और अपने हक के लिए लड़ रहे हैं, या कहता है कि पूँजीवाद लुटेरा है, या कहता है हम फलाँ जाति के हैं, या हम जाति को नहीं मानते, तो वह परिघटनात्मक स्तर पर, बोध के स्तर पर होता है। जब एक आदमी समाज-विश्लेषण करके मजदूर वर्ग की परिभाषा और भूमिका तक पहुँचता है, गहन अध्ययन-विश्लेषण करके उत्पादन-प्रणाली विशेष के गुणधर्मों और अन्तरविरोधों के बारे में बताता है, जाति के ऐतिहासिक सामाजिक-आर्थिक आधार को समझकर बात करता है, तो वह संरचनात्मक स्तर पर या धारणा के स्तर पर बात कर रहा होता है। घपला यहाँ किया गया है। यह नयी ज्ञान-मीमांसा है। यदि वर्ग संघर्ष अब केवल सामाजिक आन्दोलनों के ही रूप में सामने आयेगा तो पूछा जाना चाहिए कि अपनी वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक माँगों को लेकर जो तमाम स्वयंस्फूर्त और संगठित मजदूर आन्दोलन हो रहे हैं, या मालिक किसान लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य की अपनी वर्गीय माँगों को लेकर आन्दोलन करते हैं, क्या वे वर्गों के आन्दोलन नहीं हैं?

इसी तर्क के सिलसिले में विचारक-द्वय आवेश में कह उठते हैं : “कुछ लोग सोचने लगते हैं कि आर्थिक मूलाधार एक प्रकार की नींव है जिस पर अधिरचनात्मक अट्टालिका खड़ी होती है। यह सब ग़लत समझदारी पर आधारित शब्दों का खेल है। समाज को खोदने से अन्दर उत्पादन-प्रणाली दिखायी नहीं पड़ने लगेगी या अधिरचना को भेदकर ठोस मूलाधार को प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता।” इनमें से पहला वाक्य यदि शब्दों का खेल है तो यह खेल मार्क्स से लेकर माओ तक सबने खेला। यही सच है। इस रूपक के ज़रिए **मार्क्स** ने जो कहना चाहा वह **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रस्तावना से स्पष्ट है। हर रूपक, तुलना या सादृश्य निरूपण अधूरा होता है, लंगड़ा होता है। लेनिन ने भी यही कहा था। रूपक को अभिधा में लेना किसी तर्क को मूर्खता की सीमा तक खींचना होता है। अभिधा में ही प्रतितर्क किया जा सकता है कि समाज को खोदेंगे किस कुदाल से? अधिरचना को भेदेंगे किस तीर से? उत्पादन-प्रणाली का अध्ययन कोई मार्क्सवादी अधिरचना को भेदकर नहीं करता बल्कि आर्थिक तथ्यों का अध्ययन-विश्लेषण करके परिघटना से संरचना के स्तर पर पहुँचने की प्रणाली से करता है। उत्पादन-प्रणाली के अध्ययन का अर्थ होता है उत्पादन-सम्बन्धों (स्वामित्व के रूप + श्रम-विभाजन + वितरण के स्वरूप) और उत्पादक शक्तियों के विकास का अध्ययन और उन दोनों के मध्य जारी अन्तरविरोधों के विकास का अध्ययन। अधिरचना का अध्ययन भी वह इसी तरह करता है और मूलाधार विषयक अपने निष्कर्षों का सत्यापन करता है। तदनन्तर वह मूलाधार और अधिरचना के अन्तरविरोधों को समझने की कोशिश करता है। यहाँ एक घपला और है। मूलाधार उत्पादन-प्रणाली

को बताया गया है, न कि उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग को। उत्पादन-प्रणाली से उत्पादन-सम्बन्धों को विस्थापित करने का मतलब है, उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग और उत्पादक शक्तियों के बीच के उस अन्तरविरोध को गोल कर जाना, जिसकी अभिव्यक्ति सामाजिक वर्ग संघर्ष के रूप में होती है। यही गड़बड़ी विनोद मिश्र भी करते हैं। बहरहाल, विचारक-द्वय का मूल उद्देश्य तो यह है कि कथित सामाजिक आन्दोलनों को ही वर्ग संघर्ष का एकमात्र रूप बताया जाये।

विचारक-द्वय वस्तुतः कूपमण्डूक कम्युनिस्ट का एक काल्पनिक पात्र खड़ा करते हैं, उसके मुँह से कुछ मूर्खतापूर्ण बातें कहलवाते हैं, और फिर उन्हें काटते हुए कुछ सही बातें कहते हुए उन बातों को “नयी” ज्ञान-मीमांसा के द्वारा अपनी अभीष्ट निष्पत्तियों तक पहुँचा देते हैं। उनका अपना निष्कर्ष तो स्पष्ट है कि वर्ग संघर्ष की परिघटनात्मक स्तर पर अभिव्यक्ति अब सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही होगी। कम्युनिस्टों पर वे आरोप लगाते हैं कि वे हड़तालों और भूमि-संघर्ष को तो वर्ग संघर्ष मानते हैं, पर दलित-उत्पीड़न विरोधी संघर्ष या नारी-मुक्ति संघर्ष जैसे संघर्ष को वर्ग संघर्ष से इतर मान लेते हैं, फिर भी, वे इन सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत करते हैं क्योंकि क्रान्तिकारियों को सामाजिक आन्दोलनों में शिरकत करनी होती है। कोई औसत समझदारी वाला कम्युनिस्ट भी ऐसा नहीं सोचता। मार्क्सवाद की एक आम समझ है कि हर सामाजिक आन्दोलन की एक वर्ग अन्तर्वस्तु होती है। वह वर्ग संघर्ष का परोक्ष या विरूपित रूप होता है जो समाज-विशेष के सामाजिक अन्तरविरोधों से ही पैदा होता है। कम्युनिस्ट नेतृत्व उस संघर्ष में भागीदारी के द्वारा उक्त अन्तरविरोध को मुख्य अन्तरविरोध की अधीनस्थ सहायक भूमिका में लाने का प्रयास करता है क्योंकि अन्तिम तौर पर, वह अन्तरविरोध मूल अन्तरविरोध के हल होने के साथ ही हल हो सकता है। हर सामाजिक आन्दोलन पर बुर्जुआ और सर्वहारा अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए संघर्ष करते हैं। उदाहरण लें। राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं का आन्दोलन राष्ट्रीय बुर्जुआ या निम्न-बुर्जुआ के नेतृत्व में, बहुराष्ट्रीय देश के शासक बड़े बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध उस राष्ट्र या राष्ट्रीयता की जनता का आन्दोलन होता है। कम्युनिस्ट उसका समर्थन करते हैं क्योंकि वह बुर्जुआ राज्यसत्ता के विरुद्ध है। साथ ही वे उस राष्ट्र की जनता को सतत प्रचार द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार देने के साथ यह भी बताते हैं कि मूल समस्या का हल राष्ट्रीय आजादी से आगे समाजवाद में निहित है। छात्र आन्दोलन की एक स्पष्ट वर्गीय अन्तर्वस्तु होती है, वह अन्तर्वस्तु की दृष्टि से मध्य वर्ग और जनता के अन्य वर्गों का संयुक्त मोर्चा होता है। बुर्जुआ राजनीति बुर्जुआ छात्र संगठनों के द्वारा उस पर अपना वर्चस्व जमाने की कोशिश करती है और सर्वहारा राजनीति उस पर अपना वर्चस्व जमाकर

व्यापक आम छात्रों के संघर्ष को सर्वहारा संघर्ष से जोड़ने की कोशिश करती है। स्त्री आन्दोलन भी सभी वर्गों की स्त्रियों का आन्दोलन होता है। बुर्जुआ स्त्री आन्दोलन के विविध रूप इसी व्यवस्था के भीतर कुछ राहतों-सुधारों के लिए लड़ते हैं, जबकि सर्वहारा राजनीति से निर्देशित स्त्री आन्दोलन इन संघर्षों में भागीदारी करते हुए उन्हें समाजवाद के लिए संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ाता है, वह लगातार बताता है कि अन्तिम तौर पर सभी वर्गों की स्त्रियों की पराधीनता समाजवादी संक्रमण के दौरान ही समाप्त हो सकती है, वह बहुसंख्यक मेहनतकश स्त्रियों और निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों को संगठित करने पर अधिक बल देता है क्योंकि अपने वर्ग हित के चलते उच्चतर वर्ग की स्त्रियाँ समाजवाद के नारे और संघर्ष के रैडिकल रास्ते को स्वीकार नहीं करतीं और क़ानूनी सुधारों और अस्मिता का जश्न मनाने में ही डूबी रहती हैं। जातियों के जो आपसी टकराव होते हैं, वे वस्तुतः वर्ग संघर्ष के ही विकृत-विरूपित रूप होते हैं। दलित संगठनों पर यदि बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ नेतृत्व हावी होता है तो व्यापक दलित आबादी को इसी व्यवस्था में कुछ सुधारों तक केन्द्रित कर देता है, उनके नुस्खे अलबत्ता अलग-अलग होते हैं। सर्वहारा राजनीति का काम है बहुसंख्यक दलित-मेहनतकश आबादी के उत्पीड़न के विरुद्ध जनवादी अधिकारों के दायरे के भीतर संघर्ष करना, और साथ ही उसे अन्य जातियों की व्यापक मेहनतकश आबादी के साथ साझा माँगों पर जोड़ना, जाति-उन्मूलन की पूरी योजना प्रस्तुत करना और अधिरचनात्मक धरातल पर जातिगत पार्थक्य और पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए सतत प्रचार एवं आन्दोलन की कार्रवाई चलाना।

विचारक-द्वय की थीसिस थोड़े और परिष्कृत रूप में, ज़्यादा खुले मन्तव्यों के साथ 'न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव' के मसौदा घोषणापत्र (जनवरी, 2011) में हमें देखने को मिलती है। घोषणापत्र में एक बदलाव यह तो दीखता है कि इस अवस्थिति का परित्याग कर दिया गया है कि वर्ग संघर्ष केवल सामाजिक आन्दोलनों के रूप में ही प्रकट होंगे। घोषणापत्र मजदूरों और मेहनतकशों के आन्दोलनों को भी वर्ग संघर्ष के रूप में मान्यता देता है, पर साथ ही, बड़ी सफ़ाई से मार्क्सवादी तर्कों की सीढ़ी से अस्मिता राजनीति (Identity Politics) का एक नया संस्करण रचने की मंज़िल तक जा पहुँचता है। घोषणापत्र बताता है कि एक व्यक्ति की केवल वर्गीय पहचान नहीं, बल्कि कई पहचानें होती हैं। "एक सामाजिक इकाई के रूप में प्रत्येक व्यक्ति कई धुरियों पर खड़ा होता है" और "कई पहचानें लेकर चलता है।" यानी, धुरियाँ कई हैं जिनमें से वर्ग एक धुरी है। फिर आगे, "जेण्डर, जाति, नस्ल, नृजातीयता, राष्ट्रीयता और धार्मिक पहचान उन सामाजिक सम्बन्धों के अहम उदाहरण हैं जो वर्ग सम्बन्धों की धुरी को विभिन्न प्रकार से काटते हैं और उसके साथ ही सामाजिक यथार्थ को गढ़ते हैं।"

यानी, ये रेखाएँ स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं और वर्ग सम्बन्ध की धुरी को काटती हैं। पहले यह भी कहा गया है कि ये खुद धुरियाँ हैं। मार्क्सवादी विश्लेषण से अलग विमर्श की यह वैकल्पिक भाषा अपने आप में काफी भ्रामक है। पर इसका मन्तव्य स्पष्ट है और वह है मुख्य सामाजिक अन्तरविरोध के इर्द-गिर्द जनसमुदाय के वर्ग संघर्ष संगठित करने और अन्य अन्तरविरोधों को इसके मातहत हल करने की बात करने की बजाय सभी अन्तरविरोधों को समकक्ष बना देना और सामाजिक संघर्षों को, अस्मिताओं के संघर्ष के रूप में विखण्डित कर देना। मार्क्सवाद बताता है कि इन तमाम कथित पहचानों में से कई अतीत का बोझ हैं, जिन्हें वर्ग-ध्रुवीकरण रोकने के लिए सचेतन तौर पर बनाये रखा गया है। कुछ अवशेष अधिरचना के धरातल पर हैं और कुछ की जड़ें नये उत्पादन-सम्बन्धों के मूलाधार में भी हैं। कुछ कल्पित पहचानें हैं, जो या तो अतीत के अवशेष हैं या गढ़ी गयी हैं। कुछ पूरे वर्ग समाज के दौरान बने रहने वाले अन्तरविरोध हैं, जैसे जेण्डर का सवाल। स्त्रियों की पराधीनता का पहले सामन्ती चरित्र था, आज पूँजीवादी चरित्र है। कुछ अन्तरविरोध सारतः पूँजीवादी समाज के बहुस्तरीय, विविधरूपी अन्तरविरोधों की श्रेणी में आते हैं। पूँजीवाद ने कई प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं को पुनःसंसाधित करके अपना लिया है, इससे कुछ अन्तरविरोधों की प्रतीतिगत पुरानी निरन्तरता होती है, पर उनका वर्गीय संरचनात्मक सार बदल चुका होता है। चूँकि उत्पादक कार्रवाई ही बुनियादी मानवीय कार्रवाई है, अतः उत्पादन-सम्बन्ध ही समाज के मूलाधार हो सकते हैं और उनसे बनने वाले वर्ग ही बुनियादी प्रवर्ग हो सकते हैं और अन्य सामाजिक प्रवर्गों के मूल में यह वर्गीय अन्तर्य किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सभी अस्मिताओं में वर्ग अस्मिता ही ओवरराइडिंग अस्मिता है। इसी आधार पर व्यापक जन-गोलबन्दी हो सकती है। वर्ग अस्मिता को मजबूत बनाने का अर्थ अन्य अस्मिताओं को छोड़ देना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीयता, जाति, जेण्डर आदि से जुड़े न्यायसंगत प्रश्नों पर भी संघर्ष करते हुए जनसमुदाय को मूल संघर्ष से जोड़ देना है। वर्ग अस्मिता ही वह सार्विक अस्मिता है जो सभी अस्मिताओं को आच्छादित कर लेती है। पूँजीवाद अन्य सभी अस्मिताओं के सवाल को अपने ढंग से तन्तुबद्ध करके उनके संघर्षों को 'सेफ्टी वॉल्व,' धोखे की टट्टी और वर्ग ध्रुवीकरण कम करने के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करता है। सर्वहारा का हरावल इनके वर्ग-अन्तर्य को समझकर इन्हें व्यापक क्रान्तिकारी संघर्ष का अधीनस्थ बनाता है, उसका संघटक अवयव बनाता है। आज नव-मार्क्सवादी चिन्तन की एक पूरी धारा है जो वर्ग विश्लेषण, वर्ग संघर्ष, पार्टी, राज्य और क्रान्ति के प्रश्नों पर मूल प्रस्थापनाओं से बचने या हटने के लिए उत्तर-आधुनिक विमर्श (जिनमें अस्मिता राजनीति भी एक है) की शब्दावली का इस्तेमाल कर

रही है। इस धारा के सुभाष गाताडे ब्राण्ड विचारक दलितों के विभिन्न छोटे-छोटे संगठनों एवं आन्दोलनों में उनकी आत्म-अस्मिता का नया उभार देखकर खूब तालियाँ बजाते हैं, पर वे यह नहीं देखते कि ये तमाम संगठन कुछ ही दिनों में किस तरह संसदीय राजनीति के घृणित अवसरवादी खिलाड़ी बन जाते हैं। वे यह नहीं देखते कि इन अस्मिता उभारों की एक परिणति दलित जातियों-उपजातियों के आपसी टकरावों (जैसे आन्ध्र प्रदेश में माला-मादिगा संघर्ष) और पार्थक्य के रूप में सामने आ रही है। वे यह नहीं बताते कि दलित अस्मिता के इन उभारों से दलित मुक्ति और जाति उन्मूलन की कोई परियोजना कैसे विकसित होगी? दलित अस्मिता का अहसास पैदा करने और दलितों में सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध जागृति लाने के लिए वे अम्बेडकर के प्रति श्रद्धा-विह्वल रहा करते हैं और जाति प्रश्न की उपेक्षा तथा अम्बेडकर से दुराव के लिए कम्युनिस्टों की लानत-मलामत करने से उनका मन कभी नहीं भरता, लेकिन कहीं भी अम्बेडकर की राजनीतिक दृष्टि, राजनीतिक भूमिका, दलित मुक्ति की उनकी परियोजना, उनकी अर्थनीति और इतिहास-दृष्टि की विवेचना उन्होंने नहीं की है। वे यह भी नहीं बताते कि “सुअरों के दर्शन” मार्क्सवाद के बारे में, सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में, धर्म के बारे में और मार्क्सवाद के मुकाबले बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता के बारे में अम्बेडकर के विचार कितने तथ्यसंगत और तर्कसंगत थे। ऐसे लोगों की धारणा ही यह है कि दलितों को साथ लेने के लिए अम्बेडकर-स्तुति ज़रूरी है और राह चलते कम्युनिस्ट आन्दोलन की भर्त्सना तो जैसे उनके संस्कार बन चुके हैं। कोई उत्पीड़ित समुदाय उसके पुराने नायक की निर्मित प्रतिमा को ढोने से साथ नहीं आ जाता, उसे संघर्ष का एक ठोस कार्यक्रम, मुक्ति की एक स्पष्ट परियोजना देनी होती है। क्रान्ति की मनोगत शक्तियाँ अन्य विविध वस्तुगत-मनोगत कारणों से कमजोर हों तो इस काम में लम्बा समय लग सकता है, पर दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है। यह सोच सिरे से ग़लत है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मुख्य कारण जाति-प्रश्न की नासमझदारी या उपेक्षा रही है। कम्युनिस्ट आन्दोलन की विफलता का मूल कारण विचारधारात्मक कमजोरी के चलते भारतीय समाज के मूलाधार और अधिरचना का गहन अध्ययन-विश्लेषण न कर पाना और भारतीय क्रान्ति का एक सांगोपांग कार्यक्रम – रणनीति और आम रणकौशल नहीं विकसित कर पाना रहा है। जाति प्रश्न का सही विश्लेषण करके ठोस कार्यभार न तय कर पाने की कमी इसी मूल कमी का एक अंग है या एक उत्पाद है।

भारत के जितने क्रान्तिकारी ग्रुप हैं, उनमें से कई ने जाति प्रश्न की विगत दो दशकों के दौरान व्याख्या करने की कोशिश की है लेकिन वे प्रायः सतही, अधूरी या ग़लत हैं। कोई कहता है कि अतीत में उत्पादन-सम्बन्ध जाति-व्यवस्था

पर आधारित थे (तो फिर जाति-व्यवस्था किस चीज़ पर आधारित थी?)। कोई कहता है कि जाति प्रथा पर श्रम विभाजन आधारित था (आधारित था या जाति श्रम विभाजन की ही एक रूढ़ व्यवस्था थी, और क्या केवल श्रम विभाजन था या जाति स्वामित्व के रूप और वितरण के तौर-तरीके भी तय करती थी?)। कोई कहता है कि जाति उत्पादन-सम्बन्धों से जुड़ी थी (सिर्फ़ जुड़ी थी या उसका हिस्सा थी और उसका प्रवर्ग क्या था – मूलाधार का, अधिरचना का, या वह दोनों में उपस्थित थी)। कुछ ऐसे भी हैं जो हर काल में जाति को अधिरचना ही मानते हैं जिसका मूलाधार सामन्ती उत्पादन-सम्बन्ध था (और है)। जाति प्रथा के उद्भव और विकास का इतिहास देते हुए भी कई (स्थापित मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा अमान्य) ग़लत प्रस्थापनाएँ दी गयी हैं, पर उन पर यहाँ चर्चा सम्भव नहीं है। औपनिवेशिक काल में, सामन्तवाद की मौजूदगी के बावजूद, औद्योगिक पूँजी के प्रवेश ने जाति-व्यवस्था को बनाये भी रखा और उसकी जड़ों पर कुछ चोट भी की, जाति-समूहों के वर्णक्रम और वर्गों के वर्णक्रम का अतिच्छादन सीमित हद तक भंग हुआ और उत्तर-औपनिवेशिक काल में तो यह अतिच्छादन बहुत सिकुड़ गया। इस प्रक्रिया पर स्पष्टता का कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुणों के लेखन में अभाव दिखता है।

मूलाधार और अधिरचना के स्तर पर सही ढंग से जाति प्रश्न को सूत्रबद्ध न कर पाने वाले कुछ मा-ले गुप इसे अर्द्ध-सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के आधार पर टिकी प्राक्-पूँजीवादी अधिरचना (सामाजिक संरचना) मानते हैं तो कुछ भूमि-सम्बन्धों के मूलाधार के ताने-बाने में भी उसकी मौजूदगी देखते हैं। समस्या यह है कि भू-लगान की प्रकृति, किसानों के मालिकाना मिल जाने के बाद बाज़ार के लिए उत्पादन करने की प्रमुख प्रवृत्ति, अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार से जुड़े राष्ट्रीय बाज़ार की मौजूदगी, किसान आबादी के ध्रुवीकरण, विभेदीकरण और सर्वहाराकरण की प्रवृत्ति, कृषि में पूँजी की बढ़ती घुसपैठ, तथा औद्योगिक-वित्तीय पूँजी के विस्तार के सभी आँकड़ों की अनदेखी करते हुए भूमि-काश्तकारी व्यवस्था, महाजनी और सामन्ती अवशेषों की गणना करते हुए ऐसे सारे गुप मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी पैमानों को ताक पर रखकर आज के भारत में चीनी नव-जनवादी क्रान्ति के मॉडल पर क्रान्ति करने की ज़िद पर बयालीस वर्षों से अड़े हुए हैं और 1963 की विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा विषयक दस्तावेज से पचास वर्षों बाद भी चिपके हुए हैं। भारतीय क्रान्ति का प्रोमेथियस अभी भी जड़सूत्रवाद (dogma) की जंजीरों से नव-जनवादी क्रान्ति की चट्टान से बँधा हुआ है। ऐसे गुणों में से कुछ की मान्यता है कि दलित प्रश्न/जाति प्रश्न अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से भूमि प्रश्न है। यानी एक रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम इस प्रश्न को हल कर सकता है। अब

समझने की ज़रूरत यह है कि जनवादी क्रान्ति की मंजिल हो, तो भी (जैसा कि लेनिन ने स्पष्ट किया है) भूमि विषयक आम नीति के तौर पर भूमिहीन ग्रामीण मजदूरों को निजी परिवार के स्तर पर ज़मीन बाँटकर उन्हें छोटे पैमाने का माल-उत्पादक बनाना कम्युनिस्टों का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता। जनवादी क्रान्ति का भूमि कार्यक्रम सर्वोपरि तौर पर किसानों को मालिकाने का हक देता है, राज्य और किसानों के बीच लगानजीवी भू-स्वामियों के संस्तर को समाप्त करता है, किसानों को सहकारी खेती और फिर सामूहिक खेती के लिए प्रेरित करता है, फालतू ज़मीनों और बड़ी जागीरों पर राजकीय फार्म (जो नज़ीर बनते हैं) बनाता है, सामन्ती भू-स्वामियों को छीनी गयी खुदकाशत ज़मीनों पर भूमिहीन ग्रामीण मजदूरों के सामूहिक फार्म बनाता है (किन्हीं विशेष स्थितियों में अधिक पिछड़े देशों में यदि ज़मीन बाँटनी भी पड़ती है तो सहकारिता संगठित की जाती है) और खेती में श्रम-शक्ति की खरीद-फरोख्त को प्रतिबन्धित कर देता है। जो मँझोले मालिक निजी खेती तुरत छोड़ने को तैयार नहीं होते, वे भी मजदूर लगाकर काम नहीं करा सकते। भारत की स्थिति देखें। किसान मालिक बन चुके हैं और बड़े किसानों ने छोटे किसानों के बड़े हिस्से को सर्वहारा बना दिया है। सामन्ती लगान और लगानजीवी भू-स्वामी समाप्त हो चुके हैं। आज की व्यावहारिक स्थिति यह है कि किसी जादुई तरकीब से यदि सिर्फ गाँव के भूमिहीनों को सारी परती ज़मीन और सीलिंग सख्ती से लागू करके निकली जमीन बाँट भी दी जाये (जो सत्ता का कनिष्ठ साझीदार बुर्जुआ भू-स्वामी वर्ग कभी न होने देगा) तो भी प्रति भूमिहीन परिवार डेढ़ से दो बीघा ज़मीन आयेगी और जल्दी ही पूँजी का चुम्बक इसे खींचकर बड़े भू-स्वामियों के पास ला देगा। (यदि सारी ज़मीन सभी ग्रामीण परिवारों में बराबर-बराबर बाँट दी जाये तो प्रति परिवार 3.68 एकड़ ज़मीन आयेगी, पर यह हवाई किला बनेगा कैसे और यदि सर्वहारा सत्ता को ही करना हो तो वह ऐसा क्यों करेगी?) दूसरी बात, आज की खेती में क्षेत्रफल से अधिक उसमें लगी पूँजी का महत्व होता है। पूँजी के अभाव में छोटे मालिक किसान बनने के बाद भूमिहीनों की जीवन-स्थिति कारखाना मजदूरों से भी बदतर होगी। यह हम आज भी देख सकते हैं। इसलिए आज भी ग्रामीण मजदूरों को पट्टे पर ज़मीन बाँटने जैसी जो फौरी माँगें उठायी जाती हैं वे उतनी ही प्रतिक्रियावादी हैं जितनी मालिक किसानों की लागत मूल्य और लाभकारी मूल्य से जुड़ी माँगें। जनवादी क्रान्ति के फ्रेमवर्क में सोचने वाली कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी जमातें जाति-व्यवस्था को एक ओर भूमि प्रश्न तो दूसरी ओर सामन्ती अधिरचना के रूप में देखती हैं। जाति-व्यवस्था के बदले हुए पूँजीवादी रूप को वे नहीं देख पातीं।

एक और बड़ी विचित्र धारा है जो पहले तो समाजवादी क्रान्ति की मंजिल

मानती थी, पर अब पलट गयी है। उसका मानना है कि राजा-रजवाड़ों का बड़ा सामन्तवाद तो खत्म हो गया (उसके अवशेष रह गये हैं), पर गाँव-गाँव तक छोटा सामन्तवाद आज के भू-स्वामियों और जोतदारों के रूप में बरकरार है (यह धारा यह नहीं बताती कि इन भू-स्वामियों-जोतदारों को सामन्ती कैसे माना जाये?) जाति की समस्या इसी छोटे सामन्तवाद से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। ज़्यादा बड़ी जोतें 'ऊँची' जाति के भू-स्वामियों के पास हैं (यह ग़लत है, ज़्यादा बड़ी जोतें और पूँजी सघन खेती आज मध्य जातियों के बड़े किसानों के पास हैं)। छोटा सामन्तवाद, मन्दिरों-मस्जिदों-वक्फ़ों-गिरजाघरों-गुरुद्वारों की मौजूदगी, बड़े सामन्तवाद के अवशेष और जाति-समस्या – यह कुल मिलाकर सामन्तवाद को मौलिक अन्तरविरोध बनाते हैं। यानी राजनीतिक अर्थशास्त्र गया छुट्टी पर, सरल जोड़ से ही अन्तरविरोध तय हो गया। जाति समस्या के हल के लिए यह धारा नुस्खा सुझाती है कि समाजवादी राज्य समूची ज़मीन का राष्ट्रीकरण (इसके लिए तो सीधे गाँव की निम्न मध्य किसान आबादी भी साथ नहीं आयेगी) करके जाति-व्यवस्था के सबसे नीचे पड़े पायदान पर खड़े लोगों से बाँटते हुए ऊपर के ग़रीबों की तरफ़ जायेगा (सबको इकट्ठे बराबर-बराबर क्यों नहीं दे देगा?), फिर सहकारी खेती से कम्यून तक की यात्रा पूरी करते हुए जनवादी क्रान्ति पूरी करेगा (राज्य समाजवादी होगा, क्रान्ति जनवादी करेगा!), इसी प्रक्रिया में अधिरचना के धरातल पर भी लगातार संघर्ष होगा और जाति-समस्या का समूल उन्मूलन हो जायेगा। इतने सतही, गगनविहारी, प्रहसनात्मक मार्क्सवादी सपनों पर भला क्या टिप्पणी की जाये? लेकिन कोई आन्दोलन जब बिखरता है, तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण मौलिक स्थापनाओं को भी पढ़ने-सुनने के लिए तैयार रहना पड़ता है।

भारत को समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में मानने वाला एक अन्य गुप पूँजीवादी विकास के साथ पुरानी जाति-व्यवस्था में पड़ी दरारों और जातियों में बढ़ते वर्ग-विभाजन की काफ़ी हद तक सही चर्चा करते हुए आज भी जाति-व्यवस्था की प्रभावी मौजूदगी को रेखांकित करता है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं करता कि इस प्रभावी मौजूदगी के पीछे नवीकरण और पुनर्संसाधन की कोई गतिकी है या महज़ यह इसलिए है कि हमारे देश में पूँजीवाद का विकास मन्थर, विरूपित, ग़ैर-क्रान्तिकारी मार्ग से हुआ है। यदि जाति-व्यवस्था एक बुर्जुआ व्यवस्था के रूप में पुनर्नवा नहीं हुई है तो इस तर्क की निष्पत्ति यह होगी कि पूँजीवाद ही यदि बहुत दिनों तक बना रहा तो जाति-व्यवस्था धीरे-धीरे तिरोहित हो जायेगी। दूसरे, यह गुप सटीक ढंग से मूलाधार और अधिरचना के भीतर जाति-व्यवस्था को अवस्थित नहीं करता। सच यह है कि पूँजी की एक स्वतन्त्र गति जाति-व्यवस्था को ढीला कर रही है, दूसरी ओर आर्थिक और अधिरचनात्मक दोनों ही स्तरों पर इसकी विरोधी गति उसे नवीकृत-परिष्कृत-

अनुकूलित करके पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना में उसका तन्तुबद्धीकरण कर रही है। इस प्रश्न पर अपनी अवस्थिति हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। यह धारा अम्बेडकर, पेरियार, दलित उभार परिघटना, अम्बेडकर-मार्क्सवाद समन्वय की प्रवृत्ति और अस्मितावादी नव-मार्क्सवादियों की आलोचना करते हुए मोटे तौर पर सही अवस्थिति अपनाती है, लेकिन जाति-उन्मूलन का रास्ता सुझाते हुए यह जाति आधारित संगठन बनाने का विरोध करने, दलित पूँजीवादी पार्टियों के नेताओं का पर्दाफ़ाश करने, एन.जी.ओ. संचालित दलित अस्मिता की राजनीति और नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोणों का पर्दाफ़ाश करने पर सबसे अधिक बल देती है। सकारात्मक तौर पर बस यह समाजवाद के लिए संघर्ष के एक हिस्से के तौर पर जातिगत उत्पीड़न-अत्याचार का विरोध करने और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रचार हेतु विशेष किस्म के मंच के निर्माण (जातिगत आधार पर नहीं) को उचित मानती है तथा अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहित करने पर बल देती है। यानी मुख्य ज़ोर यह हुआ कि यदि सही वर्गीय लामबन्दी होगी तो जाति की समस्या एक अहम बाधा नहीं रह जायेगी। यह संगठन इस प्रश्न पर मौन है कि समाजवादी क्रान्ति की तैयारी की प्रक्रिया में प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के कुछ नारे क्या सीधे जाति को निशाना बनायेंगे? दलित मेहनतकशों को हम मौकापरस्त दलित नेतृत्व से अलग करने के लिए समाजवादी व्यवस्था में जाति के उन्मूलन के भौतिक आधार और सचेतन कारवाइयों के बारे में किस प्रकार बतायेंगे और फ़ौरी तौर पर भी क्या कुछ ऐसी माँगें (जनवादी माँगों के दायरे में) बनती हैं जो दलितों की दुरवस्था को कम करने में सहायक हों तथा जो सभी जातियों के मेहनतकशों की वर्गीय एकजुटता को मज़बूत बनायें?

बहुत सारे, बल्कि अधिकांश मा-ले संगठनों में इन दिनों मार्क्सवाद-अम्बेडकरवाद में समन्वय करने या कम या ज़्यादा मात्रा में अम्बेडकर से कुछ ले लेने का आग्रह बहुत प्रबल दीखता है। यह बहुत पहले शरद पाटील की सत्यशोधक कम्युनिस्ट पार्टी ने फुले-पेरियार-अम्बेडकर-मार्क्स की विचारधारा को अपनाकर किया था। पहली बात तो यह कि इस पार्टी को विचारधारा का शायद अर्थ ही नहीं स्पष्ट था। स्वयं फुले-पेरियार-अम्बेडकर के दर्शनों में भिन्नता है और दार्शनिक अन्तर्वस्तु के तौर पर मार्क्सवाद से तो कोई कड़ी ही नहीं जुड़ती। केवल अम्बेडकर के ही सवाल को लें। उनके विश्व-दृष्टिकोण, इतिहास-दृष्टि, राजनीति, अर्थनीति, दलित मुक्ति के उपायों आदि की हम सविस्तार चर्चा कर चुके हैं। कोई भी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप यह स्पष्ट नहीं करता कि अम्बेडकर से क्या लेना है? एक बात यह साज़ा है कि प्रायः ये सभी ग्रुप आरक्षण का समर्थन करते हैं, जो अम्बेडकर का योगदान था। पर वे इस बात

पर ध्यान नहीं देते कि आज यह बुर्जुआ जनवादी अधिकार से अधिक बुर्जुआ जनवाद के प्रति विभ्रम पैदा करने का उपकरण बन गया है। दूसरे, कुछ ग्रुप कहते हैं कि कम्युनिस्टों की धारा के साथ सामाजिक (जातिगत) मसलों पर आन्दोलन चलाने की अम्बेडकरवादी सोच को समाहित कर लेना चाहिए। पहली बात यह कि प्रश्न जाति का हो, जेण्डर का या पर्यावरण का, मार्क्सवाद का सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क इन सभी सामाजिक आन्दोलनों को वर्ग संघर्ष का अनिवार्य हिस्सा मानता है और इन्हें सतत चलाने पर बल देता है। भारतीय कम्युनिस्टों ने अतीत में इस पर सही या उचित बल नहीं दिया (ऐसा नहीं कि कुछ किया ही नहीं), यह एक अलग बात है। पर सैद्धान्तिक धरातल पर, इस मसले पर मार्क्सवाद की अपनी समझ काफी समृद्ध है। दूसरी बात, अम्बेडकर ने सामाजिक आन्दोलन तो बहुत कम किये, दलितों को संगठित करके औपनिवेशिक सत्ता से मोल-तोल और संवैधानिक दायरे में रहते हुए कानूनी उपायों से सुधार की बात अधिक की। इसके अतिरिक्त उन्होंने उद्योगीकरण पर बल दिया (वह तो पूँजीपति वर्ग कर ही रहा है) तथा धर्मान्तरण का मार्ग सुझाया (जो फ्लॉप सिद्ध हुआ)।

हाँ, ऐसे अधिकांश मा-ले ग्रुप, गेल ओमवेत, आनन्द तेलतुम्बड़े, सुभाष गाताडे आदि-आदि अम्बेडकर के इस मौलिक सैद्धान्तिक अवदान पर विस्फारित-नेत्र रह जाते हैं कि जाति-व्यवस्था महज श्रम विभाजन नहीं बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है और यह चीज़ भारत की विशिष्टता है। नासमझी हमें सामान्य बातों को भी मौलिक मानकर चकित होने के लिए मजबूर करती है। श्रम विभाजन की तार्किक परिणति दुनिया में कहीं भी श्रमिकों के पदानुक्रमिक विभाजन के रूप में ही होती है। पहले सामान्य उदाहरण लें। मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले से, कुशल श्रमिक अकुशल श्रमिक से, स्थायी मजदूर अस्थायी मजदूर से, हल्के काम वाले भारी काम वाले से ऊपर होते हैं। इंग्लैण्ड में ब्रिटिश मजदूर आयरिश मजदूर से ऊपर होते थे। अमेरिका में श्वेत मजदूर अश्वेत मजदूरों, मुलैटो-चिकानो आदि मूल के मजदूरों और आप्रवासी मजदूरों से ऊपर होते हैं। पूँजीवादी समाज में यह होगा ही। भारत में श्रमिकों के विभाजन में केवल यह बात जुड़ जाती है कि 'अस्वच्छ' काम, भारी काम और कम तनख़्वाह वाले 'नीचे' के काम ज़्यादातर दलित जातियों को करने होते हैं और कार्यस्थल पर भी उन्हें अमेरिका के किसी अश्वेत या मेक्सिकन मजदूर के मुकाबले सामाजिक पार्थक्य का सामना अधिक करना पड़ता है। अतः यह अम्बेडकर की कोई मौलिक खोज नहीं है, पूँजीवादी श्रम विभाजन की एक सामान्य विशिष्टता है।

श्रमिक मुक्ति दल की गेल ओमवेत के अपने कुछ मौलिक तर्क हैं। भारतीय कम्युनिस्टों को तो वे असुधारणीय यान्त्रिक भौतिकवादी मानती हैं। उनका कहना

है कि वे जाति को “वर्ग” में अवशोषित मानते हैं और “शोषण” की शुद्ध आर्थिक व्याख्या करते हुए जाति के सन्दर्भ में इसे नहीं देखते। **मार्क्स** की पुस्तक **राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** की प्रसिद्ध प्रस्तावना की नयी व्याख्या करते हुए वे कहती हैं कि सामाजिक उत्पादन के जिन सम्बन्धों में मनुष्य के बँधने की बात मार्क्स करते हैं, वे वर्गीय उत्पादन-सम्बन्धों के अतिरिक्त गैर-वर्गीय उत्पादन-सम्बन्ध भी होते हैं (यानी जाति उत्पादन-सम्बन्ध)। मार्क्स की यह बात भारत पर लागू नहीं होती है कि ‘अब तक का सारा ज्ञात इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।’

इन सूत्रीकरणों में आद्यन्त अशुद्धियाँ हैं। पहली बात यह कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में श्रम-विभाजन जातिगत ही था, यँ कहें कि श्रम विभाजन ने ही जाति को जन्म दिया और जाति वर्ग के समकक्ष थी। औपनिवेशिक काल में यह स्थिति टूटी। पूँजीवादी विकास के दौर में और तेज़ी से टूटी। पूँजीवादी श्रम-विभाजन ने जो वर्गीय संरचना पैदा की, उसमें पुरानी जाति संरचना के प्रबल तत्त्व थे, पर दोनों अब समानार्थी नहीं रह गये थे। जाति वर्ग में अवशोषित नहीं हो गयी है, बल्कि वर्गों में जाति-विभाजन है और जातियों में वर्ग विभाजन है, लेकिन दलित जातियों की बहुसंख्या दोनों ही विभाजनों में सबसे निचले पायदान पर है। मज़दूर के रूप में उनके बाजू में अन्य जातियों के लोग भी खड़े हैं, पर उनसे उनका पार्थक्य है और काम की दृष्टि से भी वे कठिन, ‘नीचा’ माने जाने वाला काम करते हैं। जहाँ तक शोषण का सवाल है, शोषण सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में अधिशेष निचोड़ने की कार्रवाई है, यह वर्गीय धरातल पर ही होती है। यहाँ कम और ज़्यादा शोषण की भी बात नहीं है। हो सकता है कि उन्नत मशीन पर ज़्यादा उत्पादन करने वाले मज़दूर को ज़्यादा पगार मिलती हो, उससे अधिशेष भी अधिक निचोड़ा जाता हो। दूसरी ओर, भारी और ‘अस्वच्छ’ काम करने वाले की कुल उत्पादित मूल्य में औसत भागीदारी कम हो, यानी वह कम पैदा करता हो और कम पगार मिलने के बावजूद उससे कम अधिशेष निचोड़ा जाता हो। “शोषण” एक सुपरिभाषित आर्थिक प्रवर्ग है, इसका उत्पीड़न या दमन के किसी रूप के साथ घालमेल नहीं किया जाना चाहिए। दलित मज़दूर कारख़ाने में भी उत्पीड़ित होता है, पर शोषण उसका वर्ग के रूप में ही होता है।

श्रमिक मुक्ति दल का सूत्रीकरण है कि आज बुरुजुआ जाति-व्यवस्था का एक पद-सोपानक्रम विकसित हुआ है जिसमें दलित और जनजातियाँ अकुशल, कठिन और ‘अस्वच्छ’ कामों में लगी हैं, मध्य जातियाँ ‘ब्लू कॉलर’ औद्योगिक नौकरियों और अलाभकारी कठिन कृषि कार्यों में लगी हैं और ‘ऊँची’ जातियों के लोग सफ़ेद कॉलर ऊँची नौकरियों और प्रबन्धकीय पेशों में लगे हैं। आरक्षण और पूँजीवादी विकास ने इस जातिगत श्रम विभाजन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं

डाला है। इस ढाँचे में अधिशेष नीचे से निचुड़ता हुआ ऊपर बुर्जुआ वर्ग तक जाता है। इस पूरी स्कीम में वस्तुगत स्थिति का सटीक परावर्तन नहीं है। 'अस्वच्छ' कामों को छोड़ दें तो अकुशल और कठिन काम करने वाले असंगठित मजदूरों की कुल आबादी में आज दलितों और जनजातियों से बहुत अधिक संख्या गैर-दलित जातियों और गैर-जनजाति आबादी की है। दूसरे, कृषि कार्य में लगी आबादी का विभेदीकरण किया ही नहीं गया है। मध्य जाति और सवर्ण कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों का हिस्सा बर्बर शोषक है, वह श्रम-शक्ति खरीदकर काम कराता है, उसका यदि कोई संकट है तो कृषि पूँजीवाद का संकट है। मध्य जातियों, कुछ सवर्ण जातियों और थोड़ी-सी दलित जातियों-जनजातियों के बीच से तबाही की ओर घिसटती छोटे-मँझोले किसानों की आबादी है। हाँ, ऊपर की नौकरियों में अभी भी सवर्णों की बहुतायत ज़्यादा है। जहाँ तक अधिशेष निचोड़े जाने का सवाल है, जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं, वह सामाजिक जीवन की कठिनाइयों से नहीं बल्कि क्षेत्र विशेष की उत्पादकता से तय होता है।

इस स्कीम के आधार पर पार्टी का जो कार्यक्रम है, वह नितान्त सामाजिक जनवादी कार्यक्रम है। उसमें क्रान्ति और समाजवाद के कार्यक्रम का तो नामोनिशान नहीं है। यह पार्टी बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का भौतिक आधार खत्म करने के लिए भू-स्वामित्व व उत्पादन के साधनों के पुनर्वितरण के भूमि कार्यक्रम में भूमिहीन मजदूरों को भूमि और पानी के पुनर्वितरण की बात जोड़ने तथा सहकारी समाजवादी खेती की दिशा में आगे बढ़ने की बात करती है। यह, विशेषकर निम्न जाति के मेहनतकशों को बीज, खेती के उपकरण आदि सस्ती दरों पर मुहैया कराने, दस्तकार जातियों की पारम्परिक दक्षता को उन्नत बनाने के लिए विशेष प्रशिक्षण देने की, उन्हें आधुनिक सहकारी कृषि-औद्योगिक क्षेत्र में विकसित होने के लिए ऋण और प्रोत्साहन पैकेज देने की और दलित जातियों-जनजातियों को 'ऑर्गेनिक' खेती की ट्रेनिंग देने की माँग करती है। इसके अतिरिक्त यह आरक्षण को जारी रखने और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) को प्रोत्साहन देने की माँग रखती है। यह किसी भी संशोधनवादी पार्टी, "सामाजिक आन्दोलन," एन.जी.ओ. या बुर्जुआ पार्टी के मेनिफेस्टो का हिस्सा हो सकता है। गेल ओमवेत का सारा नया द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक, भारतीय परिस्थितियों वाला भौतिकवाद अमली कामों के स्तर तक पहुँचकर अपने घोर बुर्जुआ सुधारवादी रूप में नंगा हो जाता है।

मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद में समन्वय के एक और प्रमुख प्रस्तोता आनन्द तेलतुम्बड़े एक ओर तो यह मानते हैं कि जाति उन्मूलन की अम्बेडकर की सारी परियोजनाएँ निष्फल सिद्ध हुईं। फिर भी न जाने क्यों **अम्बेडकर** की पुस्तक **जाति उन्मूलन** को (जिसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं) भारत में

‘कम्युनिस्ट घोषणापत्र’ जितना महत्वपूर्ण बताते हैं।* तेलतुम्बड़े आरक्षण को एक भँवरजाल मानते हैं और लगातार घटती नौकरियों के इस दौर में उसे निरर्थकप्राय मानते हैं। अस्मिता-राजनीति के भी वे कटु आलोचक हैं। लेकिन मूलाधार-अधिरचना रूपक के फ्रेमवर्क में जाति को समझने के बजाय वे इस फ्रेमवर्क को ही जाति और वर्ग के सम्बन्धों को समझने की राह में बाधा समझते हैं और भारतीय क्रान्ति के लिए जाति को वर्ग संघर्ष से न जोड़ पाना भारतीय कम्युनिस्टों की अक्षम्य भूल मानते हैं। मूलाधार-अधिरचना के प्रश्न पर हम अपनी बात ऊपर कह चुके हैं। तेलतुम्बड़े से भी हमें जाति उन्मूलन की कोई दिशा नहीं मिलती, न ही यह पता चलता है कि जाति को वर्ग संघर्ष की रणनीति से जोड़ने के लिए अम्बेडकर से मार्क्सवाद को क्या अवदान हासिल होगा।

जो कथित दलित सिद्धान्तकार हैं, उनकी दलीलें तो इतनी लचर और बोदी हैं कि उन पर ज्यादा तर्क-वितर्क सम्भव ही नहीं। ले-देकर एक अस्मिता राजनीति वाले हैं जो जाति सहित तमाम अस्मिताओं के एन.जी.ओ.-पोषित खण्डित सामाजिक आन्दोलनों में और शोध संस्थानों में शोध करने में लगे रहते हैं और दलित अस्मिता के उभार पर जश्न मनाते रहते हैं। इस प्रजाति की थोड़ी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनका वैचारिक आधार उत्तर-आधुनिकतावाद की विचार-सरणियों में ढूँढा जा सकता है।

एक अन्य विचारक कांचा इल्लैया हैं जो बिना नीतियों के विश्लेषण में गये राष्ट्रवाद की तीन श्रेणियाँ गिनाते हैं – ब्राह्मणवादी कम्युनिस्ट राष्ट्रवाद, हिन्दू राष्ट्रवाद (तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.पी. मुखर्जी आदि एकसाथ) और दलित बहुजन राष्ट्रवाद (फुले, पेरियार, अम्बेडकर आदि)। दलित बहुजन राष्ट्रवाद की इसी थीसिस का एक अमली रूप कांशीराम-मायावती की राजनीति थी। शूद्र जातियों की पार्टी (सपा) से गँठजोड़ थीसिस को और पुष्ट करता था। पर वह गठबन्धन टूटना ही था। फिर मायावती ने ब्राह्मणों को साथ लेने और सर्वजन की बात करनी शुरू कर दी। अब कांचा इल्लैया की थीसिस बदलकर यह हो गयी कि दलितों को सभी पार्टियों में अपनी पैठ बढ़ानी चाहिए ताकि सत्ता पर उनकी दावेदारी मजबूत हो।

एक अन्य सिद्धान्तकार चन्द्रभान प्रसाद हैं जो दलित पूँजीवाद को बढ़ावा देना दलित मुक्ति का रास्ता बताते हैं, उपनिवेशवाद को आज भी दलितों का मुक्तिदाता मानते हैं और अंग्रेजी देवी की मूर्ति लगवाते हैं। वे यह नहीं बताते

* तकनीकी भूल के कारण यहाँ सिर्फ “भारत” चला गया है, जिस पर संगोष्ठी के दौरान श्री तेलतुम्बड़े ने आपत्ति भी की थी। वास्तव में तेलतुम्बड़े ने “जाति भारत” शब्द का प्रयोग किया है। बहस के दौरान इस ग्लती को लेखकों की ओर से दुरुस्त कर लिया गया था, हालाँकि इससे बुनियादी सूत्रीकरण में कोई अन्तर नहीं आता। – ले.

कि जो चन्द दलित पूँजीपति पैदा होंगे, वे अपने कारखाने में दलित मजदूरों को निचोड़ेंगे या नहीं और क्या वे लूटे गये मुनाफ़े को दलितों में बाँटकर उनकी स्थिति ठीक कर देंगे? वे और कुछ अन्य दलित चिन्तक कनेडी के 'अफ़र्मेटिव ऐक्शन' जैसे क़दम के द्वारा निजी प्रतिष्ठानों में दलितों को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव देते हैं। अक्वलन तो यह एक ख़याली पुलाव है। दूसरे इन लोगों को पता नहीं कि लिंकन की दास-मुक्ति से लेकर और कनेडी के 'अफ़र्मेटिव ऐक्शन' तक की एक शताब्दी और अश्वेतों के तमाम रंगभेद विरोधी आन्दोलनों के बावजूद, एक अश्वेत राष्ट्रपति, सेनाध्यक्ष, विदेश मन्त्री और कई अश्वेत स्टार खिलाड़ी-कलाकार होने के बावजूद अमेरिकी लोकतन्त्र में आज भी बहुसंख्यक अश्वेत मजदूर सबसे कठिन व कम पगार वाले काम करते हैं, नारकीय घेट्टो में रहते हैं, आबादी के अनुपात में बेरोज़गारों में उनका प्रतिशत बहुत अधिक है, अमेरिकी जेलों में बन्द लोगों में 70 प्रतिशत अश्वेत और अन्य आप्रवासी हैं और रंगभेद की अनेक बारीक़ अभिव्यक्तियाँ अभी भी मौजूद हैं।

ज्यादातर अन्य दलित विचारक अम्बेडकर की अन्धभक्ति करते हैं और संसद और सुधार के दायरे के बाहर किसी रैडिकल गतिविधि तक से परहेज़ करते हैं। दलित-मुक्ति और जाति उन्मूलन की उनके पास कोई परियोजना नहीं है। यदि आप उनसे तर्क और विज्ञान की बात करें और आप दलित नहीं हैं (भले ही आपने जाति त्याग दी हो) तो वे आपके ऊपर 'जाति शॉविनिस्ट' का ठप्पा लगा देंगे।

दरअसल, दलित बुद्धिजीवी समुदाय के ये मुखर लोग ज्यादातर दलित बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बहुसंख्यक दलित आबादी की दशा या मुक्ति के किसी संघर्ष से इन्हें कुछ नहीं लेना-देना। ये उनसे बहुत दूर आ चुके हैं। इनके भीतर, अपनी सामाजिक स्थिति और जातिगत आधार के बूते बहुसंख्यक दलित आबादी का अगुआ बनने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी खुशहाल परिवेश में रहते हुए इन्हें सवर्ण सहकर्मियों से जो सूक्ष्म अपमान, उपेक्षा या पार्थक्य झेलना पड़ता है, उससे इनके अन्दर जो आवेश पैदा होता है, वही इनकी वक्तृता और इनके लेखन में अभिव्यक्त होता है। इनकी वास्तविक भूमिका आज पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक अवलम्ब की बन चुकी है। **मार्क्स** का यह कथन इनके ऊपर काफ़ी हद तक लागू होता है, "शासक वर्ग शासित वर्ग की अग्रतम मेधाओं को आत्मसात करने में जितना अधिक समर्थ होता है, उसका शासन भी उतना ही अधिक स्थिर और घातक होता है।" (पूँजी, खण्ड 3, पृष्ठ 601)

आज़ाद भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और जाति प्रश्न : एक सिंहावलोकन

तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन तक की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। बाद में भाकपा से एक और संशोधनवादी भाकपा 1964 में फूटकर अलग हुई। फिर इसी क़तरा में 1980 के दशक में भाकपा (मा-ले) (लिबरेशन) भी जा शामिल हुई।

संसदीय राजनीति में होने और ट्रेड यूनियन राजनीति में हावी होने के चलते साठ वर्षों से देश की जनता के सामने कम्युनिस्ट के नाम पर इन्हीं पार्टियों का चेहरा और व्यवहार रहा है। इन पार्टियों के दस्तावेज़ों और मुखपत्रों में जाति प्रश्न पर चर्चाएँ होती रही हैं, पर व्यवहार में इन्होंने दलित-उत्पीड़न विरोधी कुछ घटनाओं पर कुछ बयानबाज़ी और कुछ रस्मी विरोध-प्रदर्शनों के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। जब कोई पार्टी संसदीय राजनीति और ट्रेड यूनियन की अर्थवादी कवायदों को ही अपना एकमात्र काम बना लेती है, तो वह जनता के बीच सामाजिक मसलों पर भी जुझारू तेवर के साथ प्रचार और आन्दोलन का साहस खो देती है। जाति प्रश्न को दृढ़ता के साथ उठाकर सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने या कम्युनिस्ट प्रचार तक चलाने में ये डरती हैं कि कहीं गैर-दलित जातियाँ नाराज़ न हों। खास तौर पर इन्हें मध्य जातियों के किसानों के नाराज़ होने का भय रहता है जिनकी माँगों को गाँवों में ये प्रमुखता से उठाते हैं। साथ ही (ज़्यादातर दलित) खेत मज़दूरों के तुष्टीकरण के लिए उनकी माँगों और जाति उत्पीड़न के मुद्दों को उठाने का जुबानी जमाखर्च भी जारी रहता है, हालाँकि इनके बीच इनका पुराना जनाधार खिसक चुका है और उस पर बसपा जैसी पार्टियाँ काबिज़ हो गयी हैं। शहरों में इनका मुख्य आधार व्हाइट कॉलर (बैंक-बीमा आदि) मज़दूर और संगठित ब्लू कॉलर मज़दूर हैं जिनकी आर्थिक माँगों को लेकर इनकी रस्मी कवायदें होती रही हैं। ऐसे मज़दूरों में दलित जाति के मज़दूर कम हैं। अभी भी कुछ ग़रीब मेहनतकश शिक़ायतें होते हुए भी इनके साथ या तो कुछ आर्थिक राहत या सुरक्षा की आस में या फिर इसीलिए लगे रहते हैं क्योंकि पीढ़ियों से लाल झण्डा उनको अपना लगता रहा है। जाति के प्रश्न पर सबसे अधिक घृणा पैदा करने वाला तो इन पार्टियों के नेताओं-कार्यकर्ताओं का जीवन होता है। अधिकांशतः ये सभी (समाज से कट जाने का तर्क देकर) धार्मिक रस्मों-रिवाज़ के साथ सजातीय शादियाँ करते हैं, जीवन-मरण के धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, दबे-छिपे बिरादरीवाद भी करते हैं और चुनावी उम्मीदवार तय करते समय इलाकों के जातीय समीकरण का भी खयाल करते हैं। इनके नेता समाज के अभिजन संस्तरों में व्यवस्थित होते हैं और अपने बेटे-बेटियों को व्यवस्था में

बेहतर से बेहतर ढंग से सेट करने के लिए तिकड़में भिड़ते हैं। 1950 तक पार्टी जीवन के जो उसूल और परम्पराएँ थीं, धीरे-धीरे वे सब मिट्टी में मिल चुकी हैं। ये संशोधनवादी इसी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति हैं। इनका जीवन इनकी राजनीति के ही अनुरूप है, पर आम लोगों के सामने कम्युनिस्ट के रूप में ज़्यादातर इन्हीं लोगों का चेहरा होता है, इसीलिए, यह सही है कि दलित जातियों के बीच कम्युनिज़्म की छवि गिरी है, इनके बीच मौजूद आधार छिन्न-भिन्न हुआ है और नये-नये दलित नेता-विचारकों के कम्युनिज़्म-विरोधी प्रचारों को ग्रहण करने की अनुकूल ज़मीन तैयार हुई है।

1967 के नक्सलबाड़ी किसान उभार से जिस कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म हुआ, उसने नयी आशाओं का सूत्रपात किया। इस लहर का देश के हर हिस्से तक फैलाव हुआ। गाँव के ग़रीबों (जिनमें दलितों की बहुतायत थी) में इसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। उत्पीड़कों को सार्वजनिक दण्ड दिये गये। भू-स्वामियों की ज़मीनें छीनी गयीं। पर 1970 में भाकपा (मा-ले) बनने तक आन्दोलन पर “वामपन्थी” दुस्साहसवाद का भटकाव हावी हो चुका था। इसने गाँव के ग़रीबों के जनउभार जैसी स्थिति का गला घोट दिया। आन्दोलन बिखर गया और बिखरता ही चला गया। इसका मूल कारण विचारधारात्मक कमज़ोरी और उससे पैदा हुई भारतीय समाज की प्रकृति और क्रान्ति के कार्यक्रम (मंज़िल) की ग़लत समझदारी थी। नयी सच्चाइयों को देखने-समझने की बजाय उन्हें जनवादी क्रान्ति के फ़्रेमवर्क में अलग-अलग तरह से फिट करने की कोशिश की जाती रही और फूट और बिखराव की प्रकृति मुख्य बनी रही। लम्बे समय के गतिरोध ने विचारधारात्मक विचलनों को भी बढ़ावा दिया। अतिवामपन्थ के बरक्स दक्षिणपन्थ की रुझानें-प्रवृत्तियाँ भी पैदा हुईं। जिन कुछ संगठनों ने 1970 के ही समय से “वामपन्थी” दुस्साहसवाद का विरोध करके क्रान्तिकारी जनदिशा अपनायी थी, वे भी भारतीय समाज की प्रकृति और कार्यक्रम की ग़लत समझ के कारण ठहराव-बिखराव के शिकार हो गये। मा-ले शिविर की एक धारा ने भारतीय समाज के पूँजीवादी विकास और समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की सही समझ विकसित करते हुए एक नयी राह खोली, पर यह धारा भी अपनी अधूरी समझ, निम्न पूँजीवादी भटकावों, और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों एवं कार्यप्रणाली के अभाव के चलते बिखराव का शिकार हुई, जिससे उबरकर आगे बढ़ने की ज़होज़हद अभी भी जारी है। आज भी कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुप दक्षिणपन्थी रुझान के साथ जनदिशा लागू कर रहे हैं, एक सशक्त धारा “वामपन्थी” दुस्साहवाद की है और कुछ समाजवादी क्रान्ति की लाइन पर पार्टी बनाने और सामाजिक प्रयोगों को आगे बढ़ाने की चुनौती से जूझ रहे हैं।

इस कठिन और खराब स्थिति के बावजूद जब जाति प्रश्न के सन्दर्भ में

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की बात आयेगी, तो इसके कुछ सकारात्मक पक्षों को अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए। आन्ध्र, बिहार, बंगाल, छत्तीसगढ़ और देश के कुछ अन्य राज्यों के कुछ हिस्सों में (पंजाब की चर्चा अलग से करेंगे) जनदिशा लागू करने वाले और “वामपन्थी” लाइन लागू करने वाले – दोनों ही प्रकार के संगठनों का ग्रामीण क्षेत्रों में मुख्य आधार भूमिहीन गरीबों में, और उनमें भी मुख्यतः दलितों में था। भू-स्वामियों की ज़मीनें कब्जा करके गरीबों में बाँटी गयीं, लाइन की दृष्टि से यह भले ही ग़लत हो लेकिन दलितों में एक नयी चेतना लाने में और अन्य गरीबों के साथ एकता बनाने में इसका एक सकारात्मक प्रभाव पड़ा। न केवल उत्पीड़क भू-स्वामियों को दण्डित किया गया, बल्कि उनकी गुण्डा-सेनाओं द्वारा संगठित बर्बर नरसंहारों का भी बदला लिया गया। “वामपन्थी” आतंकवाद की लाइन होने के बावजूद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एक धारा ने छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड, महाराष्ट्र और आन्ध्र के जंगली इलाकों और बंगाल के एक क्षेत्र में आदिवासी जनजातियों को पहली बार संगठित होकर प्रतिरोध करना सिखाया। इन सबका प्रभाव यह रहा कि आज इस आन्दोलन के तमाम ठहराव-बिखराव के बावजूद जहाँ भी आन्दोलन का प्रभाव था या अभी भी है, वहाँ दलितों की स्थिति देश के अन्य हिस्सों से भिन्न है। वहाँ दलितों पर सवर्ण और मध्य जातियों के भू-स्वामियों का आतंक और दबदबा बहुत कम रह गया है। दलित वहाँ ज़्यादा स्वाभिमान से सिर उठाकर चलते हैं। अपनी तमाम सैद्धान्तिक कमज़ोरियों के बावजूद कुल मिलाकर पूरे देश में दलितों के सामाजिक उत्पीड़न को कम करने में कम्युनिस्ट आन्दोलन की (इसमें संशोधनवादी पार्टियों को न गिनें) जो भूमिका रही है, वह किसी भी दलितवादी आन्दोलन या सुधार आन्दोलन की नहीं रही है। सारे कम्युनिस्टों को पानी पी-पीकर कोसने वाले अभिजात दलित बुद्धिजीवी तो उन दक्खिन टोलों (दलित बस्तियों) और शहर की मलिन बस्तियों से बहुत दूर हो चुके हैं, जहाँ बिखरी-टूटी हालत के बावजूद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनकर्ता, चाहे वे जितने भी हों, आज भी रहकर काम करते हैं। पंजाब की स्थिति थोड़ी भिन्न रही। अर्द्ध-सामन्ती भूमि सम्बन्धों के जमाने में यहाँ के कम्युनिस्टों का जाट किसानों में मुख्य आधार था, मजदूरों और गाँव के भूमिहीनों में कम था। भूमि सम्बन्ध बदले और जाट किसानों का बड़ा हिस्सा धनी और उच्च मध्य किसान हो गया। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को यह जनाधार विरासत में मिला था, कार्यकर्ता भी ज़्यादातर ऐसे ही घरों से आते थे। मजदूरों और गाँव के भूमिहीनों में नया आधार सीमित पैमाने पर ही बना। दलित आबादी, ज़्यादातर, (पूर्णतः नहीं) इस धारा से दूर रही। अब जनवादी क्रान्ति की मज़िल मानने वालों के लिए ज़मीन ज़ब्ती और बँटवारा तो पंजाब में वैसे भी सम्भव नहीं था। जनाधार

और कैडर-लीडर कम्पोज़िशन भी इसमें दिक्कत पैदा कर सकते थे। नतीजतन, शहरों-गाँवों की दलित मजदूर आबादी और लाखों आप्रवासी मजदूरों में नया जनाधार विकसित करने का साहस जुटाने की बजाय, यहाँ के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एक बड़े हिस्से ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र को दरकिनार करके किसानों की लागत मूल्य-लाभकारी मूल्य जैसी सर्वहारा विरोधी माँगों का परचम उठा लिया और सारतः लड़ाकू किसान संगठन बनकर रह गये। शहरों-गाँवों के मजदूरों में उनका काम हमेशा सिकुड़ा रहा। नतीजतन, दलित आबादी, जो ज़्यादातर मजदूर और निम्न मध्य वर्ग है, उनसे दूर ही रही। लेकिन पूरे भारत के सन्दर्भ में यदि बात करें तो कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का मुख्य आधार गाँव के ग़रीब, और उनमें भी, दलित थे, दलित उत्पीड़न के सवाल पर उसने जुझारू लड़ाइयाँ लड़ीं, और जहाँ कहीं भी आन्दोलन का प्रभाव था, वहाँ के दलितों की सामाजिक स्थिति कोई आज भी जाकर देख सकता है। यह बात महज़ हम कुर्सीतोड़ बुद्धिजीवियों की तोहमतों और बुर्जुआ दलितवादी राजनीति के रहनुमाओं के कम्युनिज़्म विरोधी कुत्सा प्रचार का जवाब देने के लिए कह रहे हैं।

समस्या इस धरातल पर रही ही नहीं है। मूल समस्या इस गुत्थी को सुलझाने की रही है कि मार्क्सवादी वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से जाति प्रश्न को कैसे समझें, वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों को संगठित करने के अतिरिक्त जाति प्रश्न पर सामाजिक आन्दोलन के रूप क्या बनते हैं, उन्हें क्रान्ति के कार्यक्रम में कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये, जाति प्रश्न पर आज हमारे प्रोपेगैण्डा और एजिटेशन के नारे क्या होंगे, जातिगत पार्थक्य को तोड़कर मेहनतकश एकता कैसे बनायी जाये, जनता को इस प्रश्न पर आज का कार्यभार कैसे बताया जाये, जाति उन्मूलन की हमारी परियोजना क्या है और दलित, जनजाति, ग़रीब मुस्लिम समुदायों (“कमीन” जातियाँ) को प्रोपेगैण्डा और शिक्षा और नज़ीर द्वारा कैसे कायल किया जाये कि समाजवाद इन-इन बदलावों द्वारा, एक प्रक्रिया से गुज़रकर जाति-व्यवस्था को समाज के ताने-बाने से रेशा-रेशा करके समाप्त कर देगा। इसलिए आज की फ़ौरी कार्रवाइयों का सिलसिला भी उसी लक्ष्य की दिशा में निर्देशित होना चाहिए।

इस सिलसिले में विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुपों की अवस्थितियों की सामान्य-संक्षिप्त समालोचना हम कर चुके हैं। इसलिए अब हम वहाँ आ पहुँचे हैं कि जाति-उन्मूलन की परियोजना और फ़ौरी कार्यभारों की अपनी समझ आपके सामने प्रस्तुत करें।

हम भारतीय समाज को मूलतः और मुख्यतः एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी देश मानते हैं। यह पूँजीवाद उन्नीसवीं सदी-बीसवीं सदी के यूरोप और 1917 तक

के रूस से भिन्न है। अतः इस कारण से, और आज के विश्व पूँजीवाद की संरचना एवं कार्यप्रणाली में आये बदलावों के कारण से, तथा गत सर्वहारा क्रान्तियों के समाहार के आलोक में, इस उत्तर-औपनिवेशिक समाज की साम्राज्यवाद-विरोधी पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति, अक्टूबर क्रान्ति से स्वरूप एवं राह की दृष्टि से भिन्न होगी। साथ ही, समाजवादी संक्रमण की प्रक्रिया भी, विगत अनुभवों के समाहार के आधार पर, किंचित भिन्न होगी। इसीलिए हम इसे नयी समाजवादी क्रान्ति कहते हैं। यहाँ हम इस क्रान्ति के कार्यक्रम के केवल उन पक्षों की चर्चा करेंगे जो जाति-उन्मूलन के प्रश्न से जुड़े हुए हैं। सुविधा की दृष्टि से पहले हम यह चर्चा करेंगे कि समाजवाद किन रास्तों से जाति के समूल नाश की दिशा में आगे बढ़ेगा। इसके बाद इस सन्दर्भ में सर्वहारा वर्ग की पार्टी के फौरी कार्यभारों की चर्चा करेंगे।

जाति उन्मूलन की समाजवादी परियोजना

सर्वहारा सत्ता सभी तरह के बुर्जुआ राजकीय फार्मों, पुरानी जागीरों की विशाल खेती की ज़मीनों, शहरों के उद्योगपतियों-व्यापारियों-नौकरशाहों की भू-सम्पत्तियों, बड़े फार्मरों के फार्मों और बाग़ानों का (बिना मुआवज़ा दिये) राजकीयकरण कर देगी, राजकीय उद्योगों की तरह उनमें लोग काम करेंगे और प्रबन्धन का काम सभी काम करने वालों की चुनी हुई कमेटियाँ पार्टी के नेतृत्व में सँभालेंगी। गाँवों के कुलकों-भूस्वामियों-फार्मरों की भू-सम्पत्ति बिना मुआवज़ा ज़ब्त करके उन पर सामूहिक फार्म बनाये जायेंगे। राजकीय और सामूहिक फार्मों में सभी भूमिहीन काम करेंगे और बराबरी की हैसियत से सामूहिक प्रबन्धन के काम में हिस्सा लेंगे। जो छोटे मालिक किसान अपनी खेती सामूहिक फार्मों में शामिल करने को तैयार नहीं होंगे, उन्हें सहकारीकरण के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया जायेगा। कहीं-कहीं जो सहकारी खेती के लिए भी तैयार नहीं होंगे वे अपनी निजी खेती के लिए श्रम-शक्ति नहीं खरीद सकेंगे। श्रम-शक्ति की खरीद-फरोख्त प्रतिबन्धित होगी। निजी खेती करने वालों को बीज, पानी, बिजली, खाद आदि के मामले में सामूहिक फार्मों को प्राप्त छूटें-सुविधाएँ हासिल नहीं होंगी। धीरे-धीरे आर्थिक सुरक्षा के प्रति आश्वस्त, राजकीय और सामूहिक फार्मों के कामगारों की खुशहाली और समाजवाद के प्रति बढ़ते भरोसे के चलते निजी और सहकारी खेती वाले भी सामूहिकीकरण के लिए प्रेरित होंगे। इस प्रक्रिया की अन्तिम मंज़िल सारी खेती का राजकीयकरण होगा। इस तरह भूमि के निजी स्वामित्व और दलितों की सहस्राब्दियों की भूमिहीनता को समाप्त करके समाजवाद जाति-व्यवस्था के एक प्रमुख ग्रामीण अवलम्ब को नष्ट कर देगा।

बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करते ही सर्वहारा सत्ता सभी देशी-विदेशी छोटे-बड़े उद्योगों और बैंकों को ज़ब्त करके उनका राजकीयकरण कर देगी जिसका प्रबन्धन पार्टी के नेतृत्व में मजदूरों-तकनीशियनों की चुनी हुई कमेटियाँ सँभालेंगी। कारखानों में बहुविध प्रशिक्षण के सहारे लचीला और गतिमान श्रम-विभाजन होगा, जिसमें सभी के ज़िम्मे (तकनीकी विशेषज्ञता के कामों को छोड़कर) सभी काम आयेंगे और इस तरह “ऊँच-नीच” और “स्वच्छ-अस्वच्छ” कामों का भेद मिटता चला जायेगा। मशीनीकरण और ड्रेनेज-सीवरेज ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट्स की नियोजित राजकीय व्यवस्था भी “अस्वच्छ” कामों की श्रेणी का स्वरूप बदल डालेगी। फिर बढ़ती समाजवादी चेतना भी लोगों के भीतर से इस भेद के संस्कार को ख़त्म करेगी, जिससे लचीले श्रम-विभाजन में काम बाँटते हुए दबाव की आवश्यकता कम पड़ेगी। और यदि थोड़े-से लोगों पर दबाव भी डालना पड़े तो यह न्यायसंगत है।

शेयर बाज़ार तत्काल बन्द हो जायेंगे। व्यापार-क्षेत्र का राजकीयकरण होने से विनिमय पर जनता की सत्ता का नियन्त्रण कायम हो जायेगा। इससे जमाखोरी-मुनाफाखोरी-दलाली तो समाप्त होगी ही, खानदानी पेशों की रूढ़ व्यवस्था टूटने से जाति प्रथा पर प्रभाव पड़ेगा। निजी सूदखोरी प्रतिबन्धित और कठोर दण्डनीय होगी। किसी भी आपत्ति में ज़रूरतमन्द को राजकीय, सामूहिक उपक्रम की प्रबन्धन कमेट्री से सहायता मिलेगी।

आर्थिक भेदभाव के साथ शिक्षा संस्थान जातिगत भेदभाव के भी अहम केन्द्र हैं। समाजवादी राज्य द्वारा तुरत किये जाने वाले कामों में से यह एक है कि सभी तरह के निजी शिक्षा संस्थानों का राजकीयकरण कर दिया जाता है, कोचिंग संस्थान प्रतिबन्धित हो जाते हैं और नीचे से ऊपर तक सभी नागरिकों को निःशुल्क और समान शिक्षा समाजवादी राज्य की सर्वोपरि ज़िम्मेदारियों में से एक होती है। वैज्ञानिक शिक्षा प्रणाली में अभिरुचि और नैसर्गिक योग्यता के हिसाब से छात्रों को विशिष्ट क्षेत्रों की शिक्षा में लगाया जाता है, उनमें कई योग्यताएँ पैदा की जाती हैं, लचीला श्रम-विभाजन आगे चलकर उन्हें पेशे बदलने और कई काम कर पाने की सहूलियत देता है, और क्रमशः समान होते वेतन, समान होते जीवन-स्तर और शारीरिक-मानसिक श्रम के बीच के घटते अन्तर के कारण, पेशे से सामाजिक हैसियत को जोड़ने के संस्कार समाप्त हो जाते हैं। समाजवादी शिक्षा श्रम की संस्कृति को सर्वोच्च स्थान देने के साथ ही सभी युवाओं के सांस्कृतिक स्तरोंनयन पर अत्यधिक बल देती है। आर्थिक स्तर की मिटती असमानता के साथ जब शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में भी अन्तर मिट जायेगा तो जातिभेद की दीवार ढहने में और अधिक आसानी हो जायेगी।

फिर स्वास्थ्य का मामला आता है। समाजवाद में प्राइवेट प्रैक्टिस, निजी

चिकित्सालय, निजी मेडिकल कॉलेज पूर्णतः प्रतिबन्धित होंगे। पूरी स्वास्थ्य सेवा राज्य के नियन्त्रण में होगी। समाजवाद साम्राज्यवादी पेटेण्ट क़ानूनों को नहीं मानता। सभी दवाओं का उत्पादन वह देश में करेगा। पूरी स्वास्थ्य सेवा सभी नागरिकों के लिए निःशुल्क होगी। इस क्षेत्र में सोवियत संघ, समाजवादी चीन और क्यूबा तक ने जितना शानदार काम किया था, उसे पढ़कर कोई समाजवादी स्वास्थ्य नीति के बारे में सहज जान सकता है। निःशुल्क मेडिकल शिक्षा और निःशुल्क समान स्वास्थ्य सेवा से भी दलित मेहनतकशों की सामाजिक स्थिति में फर्क आयेगा।

जातिभेद को दूर करने में समाजवादी आवास-नीति की अहम भूमिका होगी। समाजवादी राज्य आवास निर्माण का पूरा काम अपने हाथ में ले लेगा। बिल्डर-ठेकेदार सामान्य कामकाज नागरिक बन जायेंगे। सर्वहारा सत्ता का पहला काम होगा, सभी बेघरों को और झुग्गी-झोपड़ीवासियों के लिए सुविधाजनक आवास मुहैया कराना। यह काम पुराने महलों, कई घरों के मालिकों के अतिरिक्त मकान जब्त करके, पाँच सितारा होटलों, बारातघरों जैसे इफ़रात विलासिता के अड्डों को आवासीय कॉम्प्लेक्स बनाकर, और बड़े-बड़े घरों में रहने वालों के घरों का एक हिस्सा लेकर पूरा किया जायेगा। इसके साथ ही आवासीय कालोनियों का निर्माण बड़े पैमाने पर किया जायेगा। शुरू में, यानी समाजवादी शिक्षा प्राप्त वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, विशेषज्ञों की एक पीढ़ी तैयार होने तक, समाजवादी उत्पादन तन्त्र के संचालन के लिए इन जमातों को वेतन ही नहीं, आवासों के मामले में भी कुछ छूट देनी पड़ती है। बाद में इसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रारम्भिक दौर बीतते ही समाजवादी राज्य सभी आवासों को राजकीय स्वामित्व में ला देता है और हर नागरिक को सुविधा-सम्पन्न आवास की गारण्टी देता है। आवासों को समान सुविधा-युक्त बनाने के लिए, पहले की बस्तियों को पुनर्नियोजित करने के लिए और नयी कालोनियाँ बसाने के लिए, श्रम-शक्ति लामबन्द करके, उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ बड़े पैमाने पर निर्माण कार्य लगातार करना होगा। बेतरतीब बसे गाँवों को हर बुनियादी सुविधा से युक्त आधुनिक कालोनियों में ढालकर बहुत सारी फ़ज़िल ज़मीन अन्य कामों हेतु निकाल ली जायेगी। राजकीय स्वामित्व के समान सुविधा-युक्त आवासों के (एकल परिवार के आधार पर) आबंटन से दलितों (और अन्य मजदूरों के भी) पृथग्वासन की समस्या हल हो जायेगी, जो सामाजिक पार्थक्य का एक अहम कारण है।

खेती और उद्योग के राजकीयकरण, गाँवों और शहरों के समान सुविधा-युक्त आवासों (और संचार-परिवहन-मनोरंजन सुविधा) से कृषि और उद्योग तथा गाँव और शहर के बीच के अन्तर मिटने लगेंगे। इसी प्रक्रिया में मानसिक श्रम और

शारीरिक श्रम के बीच का अन्तर भी कम होता जायेगा। ये तीन अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ समाजवादी समाज में बुर्जुआ विशेषाधिकारों का भौतिक आधार होती हैं। इनके मिटते जाने के साथ बुर्जुआ विशेषाधिकार भी समाप्त होते जायेंगे और परिणामतः बुर्जुआ जाति-व्यवस्था भी मरणोन्मुख होती जायेगी।

बुर्जुआ समाज में धर्म भी अपना बुर्जुआकरण करके बुर्जुआ जाति-व्यवस्था का एक खम्भा बना हुआ है। समाजवादी समाज में कम्युनिस्ट पार्टी तो लगातार धर्म-विरोधी तथा वैज्ञानिक तर्कणा का प्रचार करेगी लेकिन समाजवादी राज्य नागरिक अधिकार के तौर पर हर नागरिक की निजी आस्था और पूजा-पाठ, अरदास-नमाज आदि के अधिकार का सम्मान करेगा। हाँ, राजनीतिक-सामाजिक जीवन में धर्म का दखल पूर्ण वर्जित होगा। शिलान्यासों-उद्घाटनों में धार्मिक अनुष्ठान, स्कूलों में प्रार्थना, माइक लगाकर कीर्तन, बारात और धार्मिक जुलूस निकालकर सार्वजनिक जीवन को बाधित करना, धार्मिक स्कूल, सार्वजनिक स्थल किराये पर लेकर समागम आदि करने में सामाजिक सम्पदा की फिजूलखर्ची - इन सब पर पूर्ण प्रतिबन्ध होगा। जो पुराने स्थापित धर्म-स्थल हैं, उन्हें लोगों की भावनाओं का खयाल रखते हुए बने रहने दिया जायेगा, लेकिन उनका नियन्त्रण ट्रस्टों और मठाधीशों से राज्य छीन लेगा, मठों-मन्दिरों-वक्फों-गुरुद्वारों- चर्चों आदि की सारी ज़मीनें और धन-सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी। (इस अकूत धन से, देशी-विदेशी कम्पनियों और बैंकों के अधिग्रहण से, धनी घरों से खोजकर ज़ब्त किये गये सोने और काले धन से समाजवादी आद्य-पूँजी संचय का एक हिस्सा एकत्र होगा।) धार्मिक संगठन बनाना या धर्म के आधार पर किसी प्रकार की सामाजिक-राजनीतिक गोलबन्दी करना दण्डनीय अपराध होगा। किसी को अपने घर में धार्मिक रीति-रिवाज से शादी करने का हक्क होगा, पर राज्य शादियों को पंजीकरण के बाद ही मान्यता देगा। स्त्रियों की स्वीकृति के बिना कोई शादी मान्य नहीं होगी। तलाक की कानूनी प्रक्रिया भी सहज होगी। दहेज एक कठोर दण्डनीय अपराध होगा। इस तरह सामाजिक जीवन में धर्म की दखल कम होने से जाति उन्मूलन की प्रक्रिया तेज़ हो जायेगी।

स्त्रियों की पराधीनता परिवार के बुर्जुआ ढाँचे और अन्तःजातीय विवाहों (Intracaste marriage) का आधार है। सार्विक समान निःशुल्क शिक्षा की अनिवार्यता और सबको रोज़गार की गारण्टी के अतिरिक्त गाँवों-शहरों में बड़े पैमाने पर पालनाघरों, किंडरगार्डनें और सामूहिक भोजनशालाओं आदि का निर्माण करके घरेलू कामों की घृणित दासता से स्त्रियों को मुक्त कर दिया जायेगा। फलतः सार्वजनिक जीवन में उनकी भागीदारी बढ़ेगी। पिता (और पति) पर उनकी निर्भरता समाप्त हो जायेगी और वे अपनी जिन्दगी के फ़ैसले बिना किसी

दबाव के ले सकेंगी। इससे प्रेम विवाहों और अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) का चलन प्रधान हो जायेगा और जाति की दीवारें भरभराकर गिरने लगेंगी।

समाजवादी राज्य सभी जाति पंचायतों, खाप पंचायतों, जाति सभाओं और जाति संगठनों को गैर-कानूनी घोषित कर देगा और ऐसा कोई भी प्रयास कठोर दण्डनीय अपराध होगा।

समाजवादी राज्य शिक्षा व्यवस्था के अतिरिक्त सभी सांस्कृतिक माध्यमों और मीडिया के ज़रिए समाजवादी मूल्यों के साथ काफ़ी ज़ोर देकर जाति-व्यवस्था विरोधी सतत प्रचार करेगा ताकि नये समाज के नये नागरिकों के दिलो-दिमाग में इन घृणित संस्कारों के लिए कोई स्थान न हो।

इस तरह समाजवाद उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन-सम्बन्धों में भी लगातार बदलाव लाते हुए और उसके साथ-साथ, पूरा ज़ोर देकर अधिरचना के क्षेत्र में भी सतत क्रान्ति चलाते हुए मूलाधार और अधिरचना से जाति-व्यवस्था का समूल नाश कर देगा। समाजवादी संक्रमण की कम्युनिज़्म तक की यात्रा तो काफ़ी लम्बी होगी, लेकिन जाति-व्यवस्था का उन्मूलन तो समाजवादी समाज में कुछ दशकों का ही काम होगा।

हमारे फ़ौरी कार्यभार

अब तक तो हमने यह चर्चा की कि समाजवाद के दौर में जाति-उन्मूलन कैसे होगा पर इसका मतलब यह नहीं कि पहले समाजवाद के लिए लड़ा जाये, फिर जाति-व्यवस्था का नाश तो हो ही जायेगा। यदि समाजवाद के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में ही जाति प्रश्न हमारे एजेण्डे पर नहीं होगा और हमारे कुछ फ़ौरी कार्यभार नहीं होंगे तो क्रान्ति का नेतृत्वकारी वर्ग ही जातिगत भेदभाव और बुर्जुआ जातिवादी चुनावी और सुधारवादी प्रचारकों-नेताओं के प्रचार का शिकार बना रहेगा। दलित मेहनतकश की विराट क्रान्तिकारी शक्ति सोयी रहेगी और इस या उस जातिवादी नेता के पीछे भटकती रहेगी। यही स्थिति सर्वहारा के मित्र वर्गों की भी होगी। इसलिए जाति-व्यवस्था का अन्तिम तौर पर उन्मूलन भले ही समाजवाद के दौर में ही सम्भव हो, वर्ग संघर्ष की तैयारी और प्रगति के दौरान हमें इसका प्रभाव कम करने के लिए सचेतन प्रयास भी करने होंगे (फिर वर्ग संघर्ष के उभार का अपना वस्तुगत प्रभाव भी पड़ेगा और वर्गीय लामबन्दी जातिगत लामबन्दी को पीछे धकेलने का काम करेगी)।

सबसे पहला काम तो यही है कि जाति प्रश्न के समाजवाद द्वारा समाधान के बारे में, जाति-उन्मूलन के समाजवादी कार्यक्रम के बारे में तरह-तरह से निरन्तर, सघन और व्यापक प्रचार चलाया जाये। कम्युनिस्ट आन्दोलन की

कमजोरियों और संशोधनवादियों के कुकर्मों के चलते (और थोड़ी हम लोगों की अस्पष्टता के चलते) मेहनतकश जनता, विशेषकर दलित मेहनतकश ठीक से जानते ही नहीं कि कम्युनिस्ट जाति-उन्मूलन की राह क्या बताते हैं। इस काम के लिए सर्वहारा वर्ग की पार्टी को सैकड़ों, बल्कि हजारों प्रखर, प्रभावी कम्युनिस्ट प्रचारकों की ज़रूरत होगी, पर्चों-पुस्तिकाओं-सांस्कृतिक कार्यक्रमों, छोटी-छोटी शिक्षा मण्डलियों की ज़रूरत होगी। खैर, अभी तो सर्व-भारतीय पार्टी बनने की मंज़िल ही दूर लगती है। इसे सतत प्रयासों से निकट लाना होगा। लेकिन कम्युनिस्ट यदि एक गुप या संगठन के रूप में भी संगठित हैं तो उन्हें इस काम को अभी से यथाशक्ति हाथ में लेना होगा।

कुछ काम ऐसे हैं जो आज भी हाथ में लिये जा सकते हैं। कुछ माँगें ऐसी हैं जिन्हें प्रोपेगण्डा, एजिटेशन और आन्दोलन के स्तर पर आज ही उठाया जा सकता है।

एक क्रान्तिकारी संगठन के प्रभाव वाली क्रान्तिकारी यूनियनों को, छात्रों और युवाओं के संगठनों को, स्त्री संगठनों को, ग्रामीण मेहनतकश संगठनों को व सभी जन-संगठनों को अपने कार्यक्रम में जाति प्रश्न को महज रस्मी तौर पर नहीं शामिल करना चाहिए, बल्कि इस प्रश्न पर लगातार प्रचार करना चाहिए, जाति-पाँति तोड़क भोज-भात आदि आयोजन करने चाहिए, मजदूर आन्दोलनों के माँगपत्रकों में दलित मजदूरों की माँगों को प्रमुखता से स्थान देना चाहिए और दलित मजदूरों (जैसे सफ़ाईकर्मियों) के आन्दोलनों में बढ़-चढ़कर शिरकत करते हुए उनके पक्ष में अन्य मजदूरों को खड़ा करने की जी-तोड़ कोशिश करनी चाहिए। ग्रामीण मजदूरों को संगठित करते हुए उनके पारस्परिक जातिगत पार्थक्य को तोड़ने के लिए हर सम्भव कोशिश करनी चाहिए। सांस्कृतिक संगठनों को अपने प्रचार कार्य में जाति विरोध को अलग से विशेष महत्व देना चाहिए। जनवादी अधिकार आन्दोलन को जाँच टीम, हस्ताक्षर अभियान, विरोध-पत्र के रस्मी बौद्धिक दायरे से बाहर निकालकर व्यापक सामाजिक आधार पर संगठित करना होगा जो जाति उत्पीड़न की घटनाओं, खाप पंचायतों आदि के साथ क़ानूनी लड़ाई के साथ ही आन्दोलनात्मक हस्तक्षेप में भी सक्षम हों।

सार्विक, समान, निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार एक दूरगामी माँग है, पर इसी नारे को केन्द्र में रखकर सभी जातियों के छात्रों-युवाओं को एकसाथ संगठित करना होगा और दलित छात्रों-युवाओं को साथ लेने पर विशेष ज़ोर देना होगा। शिक्षा संस्थानों में जातिगत भेदभाव को मुद्दा बनाना होगा। छात्रों-युवाओं के बीच आरक्षण के प्रश्न पर नौकरियों के आँकड़ों और साठ वर्षों के परिणामों के तथ्यों सहित अपनी अवस्थिति स्पष्ट करके रखनी होगी। उन्हें बताना होगा कि हम पहले से मिली इस जनवादी माँग को छीनने की माँग का समर्थन नहीं करते,

हम इसे लागू करने में होने वाली धाँधली का भी विरोध करते हैं, पर आज यह माँग बुर्जुआ जनवाद के प्रति विश्रम पैदा करती है, आज इसका व्यापक ग़रीब दलित आबादी के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया है, उल्टे यह न केवल सभी आम लोगों को, बल्कि दलित जातियों को भी आपस में बाँटने-लड़ाने का काम भी कर रही है।

हमें बुर्जुआ दलित राजनीति की हर किस्म और बुर्जुआ दलित विचारकों के तर्कों का तर्कसम्मत, धैर्यपूर्ण उत्तर देते हुए निरन्तर प्रचार करना चाहिए।

हमें अखुबारों में जाति आधारित वैवाहिक विज्ञापनों के प्रकाशन पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए। अन्तरजातीय विवाहों (Intercaste marriage) और प्रेम विवाहों को खुलकर समर्थन देना चाहिए, हर परिवार की आधी सम्पत्ति स्त्रियों के नाम होने की क़ानूनी माँग उठानी चाहिए।

हमें जाति संगठनों, जाति सभाओं, खाप व जाति पंचायतों पर क़ानूनी प्रबन्ध और उन पर सख्ती से अमल के लिए आन्दोलन संगठित करना चाहिए।

हमें सार्वजनिक धर्म समागमों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए, परम्परागत मेलों-त्यौहारों के लिए मठों-मन्दिरों पर विशेष टैक्स लगाने की माँग करनी चाहिए तथा सरकारी दफ़्तरों-स्कूलों-आयोजनों में धार्मिक कर्मकाण्डों पर रोक लगाने की माँग करनी चाहिए।

हम दलित जातियों के अलग संगठन बनाने को तो ग़लत मानते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के पास यदि पर्याप्त ताक़त हो तो उन्हें अलग से जाति उन्मूलन मंच अवश्य बनाने चाहिए, जिसमें दलितों के अलावा अन्य जातियों के जनवादी चेतना वाले नागरिक शामिल हों। यह मंच लगातार जाति-विरोधी प्रचार सभाएँ करेगा, पुस्तक-पुस्तिकाएँ निकालेगा, आयोजन-समारोह करेगा, अन्तरजातीय विवाह (Intercaste marriages) आयोजित करेगा और दलित उत्पीड़न की घटनाओं का सक्रिय विरोध करेगा।

अन्त में, एक बात और बहुत महत्वपूर्ण है। बहुत सारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ऐसे हैं, जो समाज से कट जाने का तर्क देते हुए, अपने निजी-पारिवारिक जीवन में (शादी-ब्याह, जन्म-मरण, यज्ञोपवीत-उपनयन आदि-आदि) धार्मिक कर्मकाण्डों में शामिल होते हैं। ये कर्मकाण्ड जाति के दायरे में सिमटे होते हैं और भिन्न-भिन्न जातियों के भिन्न-भिन्न होते हैं। उपरोक्त तर्क के ही आधार पर बहुतेरे कम्युनिस्ट धार्मिक चिन्ह धारण करते हैं और पुराने धार्मिक नायकों की परम्परा से भी भाषणों में अपने को जोड़ते हैं। यह एक सामाजिक कायरता है और सिद्धान्तविहीन लोकरंजकता भी। उल्टे, इससे लोगों में कम्युनिस्टों के दुरंगे होने का प्रभाव जाता है। हम लोग अपने लम्बे अनुभव से बता सकते हैं कि धार्मिक कर्मकाण्डों से विनम्रतापूर्वक दूर रहने, बिना कर्मकाण्ड के शादी करने और मरने

पर भी कर्मकाण्ड न करने की वसीयत छोड़ जाने के कम्युनिस्ट आचरण से समाज से कटाव नहीं होता, बल्कि कम्युनिस्टों की साख बढ़ती है। हम किसी पर अपनी विचारधारा नहीं थोपते, पर अपने ऊपर तो लागू कर ही सकते हैं। यह तो बुर्जुआ जनवाद भी कहता है और इस देश का संविधान भी। यह बात हम इसलिए कर रहे हैं कि धार्मिक आचरण का सवाल जाति के सवाल से जुड़ा हुआ है। यदि कम्युनिस्टों का आचरण निजी आचार-व्यवहार में भी अधार्मिक होगा तो दलितों को विश्वास होगा कि यह व्यक्ति वाकई दिल से जाति को नहीं मानता है।

जाति का प्रश्न सहस्राब्दियों पुराना प्रश्न है। इसे चुटकियों में हल करने का कोई रामबाण नुस्खा नहीं हो सकता। यह एक लम्बी, श्रमसाध्य प्रक्रिया की माँग करता है। यह सवाल पूँजीवाद के नाश के साथ जुड़ा हुआ है। आज के समय में जाति उन्मूलन की किसी परियोजना की दिशा में आगे कदम बढ़ाना एक साहसिक काम होगा। लेकिन हर कठिन काम साहसिकता की माँग तो करता ही है। आज जाति उन्मूलन स्वप्न जैसा लग सकता है, लेकिन उस स्वप्न का यदि वैज्ञानिक आधार हो तो उसे यथार्थ में बदला ही जा सकता है। ऐसा सपना तो हर सच्चे क्रान्तिकारी को देखना चाहिए।

जाति व्यवस्था-सम्बन्धी इतिहास-लेखन : कुछ आलोचनात्मक प्रेक्षण

अभिनव सिन्हा

जाति व्यवस्था पर लिखे जाने वाले तमाम लेखों, शोध-निबन्धों व अन्य प्रकार की रचनाओं की शुरुआत लगभग सभी मामलों में कुछ अत्यधिक प्रयोग का शिकार हो चुके वाक्यों या वाक्यांशों से होती है, और चूँकि पर्याप्त घिस जाने के बाद भी ये जुमले एक हद तक एक सच्चाई का बयान करते हैं, इसलिए मैं भी ऐसे ही कुछ वाक्यों से शुरुआत करूँगा।

जाति/वर्ण भारतीय सामाजिक जीवन का एक प्रमुख यथार्थ है। भारतीय समाज का अध्ययन करने वाला कोई भी इतिहासकार, समाजशास्त्री, नृविज्ञानी और यहाँ तक कि राजनीतिक अर्थशास्त्री भी, इस सच्चाई की उपेक्षा नहीं कर सकता है। निश्चित तौर पर, यह बात सही है कि भारतीय जनमानस पर जातिगत मानसिकता का प्रभाव गहराई तक है। लेकिन जाति व्यवस्था और जातिगत मानसिकता की बात पर ज़ोर डालते हुए कई बार सामान्य लोगों से लेकर अकादमिकों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं तक में इस पहलू को भारतीय समाज और जीवन का एकमात्र सर्वप्रमुख पहलू करार देने का रुझान होता है। ऐसा करके व्यवहारतः वह जाति व्यवस्था और जातिगत मानसिकता की समस्या को वस्तुतः समाधान के एजेण्डे पर नहीं रखते, बल्कि उसे एक ऐसा अतियथार्थ बना देते हैं, जिसके पार जाना सम्भव नहीं है। वास्तव में, इस प्रकार के निष्कर्षों में जो चीज़ निहित होती है, वह है जाति व्यवस्था के प्रति एक अनैतिहासिक नज़रिया। जाति व्यवस्था एक प्रकार से अनादि और अनन्त बना दी जाती है; एक ऐसा यथार्थ जो शाश्वत और सनातन है। निस्सन्देह, आम तौर पर इस प्रकार के बयान

लेखक 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' पत्रिका तथा 'मजदूर बिगुल'
अख़बार के सम्पादक और 'बिगुल मजदूर दस्ता' के कार्यकर्ता हैं।

सम्पर्क: abhinav.hindi@gmail.com

देने वाले लोगों का यह मक़सद नहीं होता है। लेकिन वस्तुगत तौर पर इस प्रकार की बातों का नतीजा कुछ ऐसा ही निकलता है। जाति व्यवस्था के प्रति एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण न अपनाना एक प्रकार का पराजय-बोध पैदा करता है, जो कि जाति व्यवस्था को अपराजेय बनाकर प्रस्तुत करता है। अन्य सभी संघर्षों, “पहचानों” और वर्ग-संघर्ष को ख़रिज करते हुए यह नज़रिया जाति व्यवस्था को भारतीय जीवन और जनता का एक अभिन्न अंग बना देता है, उसकी जैविक विशिष्टता में तब्दील कर देता है और इसे भारतीय जनमानस की परिभाषा देने का पैमाना बना दिया जाता है। हाल ही में, भारतीय जनता के मानस में मौजूद ऐसी आदिम और सर्वसत्तावादी चेतना (!) के कारण कुछ बुद्धिजीवियों ने भारतीय जनता को ही मूल तौर पर एक ‘सर्वसत्तावादी समुदाय’ करार दिया! उनके मुताबिक भारत में आधुनिकता की परियोजना के पूरा न होने कारण समाज में ‘नीचे से’ (यानी कि जनता के बीच) तमाम सर्वसत्तावादी रुझान मौजूद हैं जो जातिवाद, खाप पंचायतों, साम्प्रदायिकता, आदि के रूप में अपने आपको प्रकट करते हैं! इसलिए इन बुद्धिजीवियों के अनुसार अभी भारत में पहले आधुनिकता की परियोजना को पूरा किया जाना चाहिए, और जब तक कि आधुनिकता की परियोजना को एक मुकम्मिल मुक़ाम तक नहीं पहुँचा दिया जाता, तब तक पूरे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे के क्रान्तिकारी परिवर्तन की परियोजना को, कमोबेश, स्थगित कर दिया जाना चाहिए! इस प्रकार की बात कहने वाले ये अकेले लोग नहीं हैं, और भी तमाम बुद्धिजीवियों ने ऐसी और इससे मिलती-जुलती बातें कहीं हैं। ऐसी बातों में एक पूर्वधारणा काम कर रही होती है। यह पूर्वधारणा यह है कि पूँजीवाद को जनवादी और आधुनिकता की परियोजना से सम्बन्धित कार्यभारों को पूरा करना चाहिए, और अगर वह नहीं करता तो प्रगतिशील ताकतों का प्रमुख काम यह बन जाता है, कि पहले उन कार्यभारों को पूरा करें, और जब कि पूँजीवादी जनवाद और आधुनिकता को पूर्णता तक नहीं पहुँचा दिया जाय, तब तक सर्वहारा कार्यभारों को स्थगित किया जा सकता है। जहाँ एक ओर यह बात सच है कि पूँजीवाद को अधिक से अधिक जनवादी बनाने की हर लड़ाई में कोई भी क्रान्तिकारी हर-हमेशा भागीदारी करेगा, वहीं यह भी सच है कि ऐसा वह ठीक इसीलिए करेगा कि सर्वहारा वर्ग संघर्ष के लिए ज़्यादा मुफीद ज़मीन तैयार की जा सके, और इस प्रक्रिया के पूरे होने तक वह शुद्ध और ठोस रूप से सर्वहारा कार्यभारों को स्थगित नहीं कर देता है।

बहरहाल, इन बुद्धिजीवियों की अवस्थिति से बिल्कुल विपरीत, दूसरे छोर की, अवस्थिति अपनाने वाले बुद्धिजीवी भी हैं। ये बुद्धिजीवी जाति व्यवस्था को, या कम-से-कम, आज हम जिस जाति व्यवस्था को जानते हैं, उसे

औपनिवेशिक राज्यसत्ता की निर्मिति मानते हैं। इन अकादमिकों का यह मानना है कि उपनिवेशवाद के भारत में आने से पहले जाति के साथ तमाम पहचानें/अस्मिताएँ भारतीय समाज में मौजूद थीं, और (सामंजस्यपूर्ण तरीके से) से सहअस्तित्वमान थीं। औपनिवेशिक राज्य ने अपने प्रभुत्व की परियोजना के तहत भारतीय जनता को दबाने-कुचलने के लिए अपने एथनोग्राफिक राज्य उपकरण के जरिये जाति का निर्माण किया! पश्चिमी प्रबोधन की तर्कणा से लैस पश्चिमी उपनिवेशवादियों ने भारत को बेहतर तरीके से शासित करने के लिए उसे बेहतर तरीके से जानना चाहा। भारत के बारे में जिस प्रकार का औपनिवेशिक ज्ञान पैदा हुआ, वह भारत में मौजूद औपनिवेशिक राज्य सत्ता की एथनोग्राफिक मशीनरी और ब्राह्मणवादी व अन्य वर्चस्वकारी समूहों के संलयन की पैदावार था, और इसी ने जाति व्यवस्था को इसके समकालीन रूप में जन्म दिया। औपनिवेशिक राज्य में चीजों को गिनने और वर्गीकृत करने का जो प्रबोधन की मानसिकता से पैदा हुआ फ्रेटिश मौजूद था, उसी के कारण भारतीय जनता को भी “तार्किक” श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया, जिसमें जाति प्रमुख श्रेणी बन गयी। जनगणना में जाति के इस्तेमाल से यह चीज़ और भी बढ़ी।

ये दोनों दृष्टिकोण ही जाति व्यवस्था की ऐतिहासिकता को नज़रअन्दाज़ करते हैं। हम इन दोनों ही दृष्टिकोणों पर इस आलेख में आगे चर्चा करेंगे।

इस आलेख में हमारा प्रमुख लक्ष्य यही है कि जाति व्यवस्था के उद्गम और सदियों से इसमें हो रहे परिवर्तनों की एक ऐतिहासिक समझदारी को विनम्रतापूर्वक सामने रखा जाय। जाति-सम्बन्धी इतिहास लेखन के विभिन्न रुझानों का एक आलोचनात्मक ब्यौरा पेश करना ही यहाँ हमारा मकसद नहीं है, क्योंकि यह आप इतिहास की किसी भी स्तरीय पाठ्यपुस्तक से प्राप्त कर सकते हैं। हमारा इरादा यह भी नहीं है कि हम महज़ यह दिखला दें कि जाति व्यवस्था सतत गतिमान रही है, क्योंकि यह भी आज संजीदा अकादमिकों में एक स्थापित तथ्य है। प्राचीन और मध्यकालीन भारत के इतिहासकारों ने यह बार-बार प्रदर्शित किया है कि जाति व्यवस्था में अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों में महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं; आधुनिक भारत के इतिहासकारों ने भी यह दिखलाया है कि जाति की अस्मिता का औपनिवेशिक राज्य और राष्ट्रवादी राजनीति, दोनों ने ही किस प्रकार इस्तेमाल किया और किस प्रकार इस इस्तेमाल की प्रक्रिया के दौरान ही इन अस्मिताओं और उनके आपसी सम्बन्धों के बीच उच्चानीच क्रम में भी परिवर्तन ला दिया। तमाम समाजशास्त्रियों ने भी जाति व्यवस्था के भीतर मौजूद गतिमानता की ओर हमारा ध्यान खींचा है। इसलिए आज की तारीख़ में किसी का यह दावा करना कि जाति व्यवस्था के भीतर गतिमानता की उसने खोज की है, नये सिरे से आग या चक्के के आविष्कार की बात करने के समान

होगा! यह भी बताया गया है कि जाति व्यवस्था में आने वाले बदलावों के लिए अलग-अलग युगों का सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ या परिवेश जिम्मेदार होता है, और उसके साथ *आर्टिकुलेशन* के जरिये ही जाति व्यवस्था के आन्तरिक ढाँचे में बदलाव आता है।

इसलिए हमारा इरादा यहाँ पहले से आविष्कृत चीजों का दुबारा आविष्कार करने का नहीं है। **इस आलेख में हमारा एक लक्ष्य यह है कि हम इस आर्टिकुलेशन को अधिक विशिष्ट रूप में विश्लेषित करें।** सामाजिक-आर्थिक कारक जाति व्यवस्था को प्रभावित और परिवर्तित करते रहे हैं, यह कहने के साथ यह बताना भी आवश्यक है कि वे सामाजिक-आर्थिक कारक क्या हैं और जिस चीज़ को हम आम शब्दों में सामाजिक-आर्थिक परिवेश या सन्दर्भ कह रहे हैं, उनकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ क्या हैं। हमारे विचार में किसी भी दौर के **प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध और प्रभावी उत्पादन पद्धति** ही हैं, जिनके साथ जाति व्यवस्था का *आर्टिकुलेशन* होता है। दूसरी बात, जो कि हम अपने इस आलेख में प्रस्तावित कर रहे हैं, वह यह है कि **इस परस्पर अन्तरक्रिया में उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादक शक्तियों के विकास और वर्ग संघर्ष का पहलू अन्तिम विश्लेषण में प्रमुख भूमिका निभाता है।** कहने का तात्पर्य यह है कि जाति व्यवस्था और समाज में मौजूद प्रभावी उत्पादन पद्धति की परस्पर अन्तरक्रिया में उत्पादन पद्धति का भौतिक कारक अन्तिम विश्लेषण में प्रभावी भूमिका निभाता है। इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि जाति व्यवस्था हर क्षण (मोमेण्ट) पर यान्त्रिक तरीके से उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तनों से निर्धारित हो रही है। इसीलिए हमने स्पष्ट किया है कि ये परिवर्तन अन्तिम विश्लेषण में निर्धारक भूमिका निभाते हैं। इसका यह अर्थ भी कतई नहीं है कि जाति और वर्ग वास्तव में एक ही हैं, या जाति ही वर्ग है। निश्चित तौर पर, ऐसी कोई भी अवधारणा वास्तव में किसी *आर्टिकुलेशन* की बात नहीं कर रही है, बल्कि दो भिन्न परिघटनाओं के पूर्ण अतिच्छादन¹ (ओवरलैपिंग) की बात कर रही है, और भारतीय इतिहास के प्रमाण दिखलाते हैं कि अपने उद्भव के दौर के अतिरिक्त जाति के सम्पूर्ण इतिहास में कोई ऐसा दौर नहीं रहा है, जब जाति और वर्ग के बीच ऐसा कोई भी पूर्ण अतिच्छादन मौजूद रहा हो। लेकिन उसके बाद जाति व्यवस्था और वर्ग विभाजन के बीच जो अन्तर पैदा हुआ, वह अभी तक के इतिहास में मौजूद रहा है, और अलग-अलग उत्पादन व्यवस्थाओं में इनके बीच एक **संगतता (करेस्पॉण्डेंस)** मौजूद रही है जिसका स्वरूप अलग-अलग उत्पादक व्यवस्थाओं के ही अनुरूप बदलता रहा है। तीसरी बात, जो हम इस आलेख में रखना चाहेंगे वह यह है कि **जाति व्यवस्था हर ऐतिहासिक दौर में अलग-अलग शासक वर्गों के वर्चस्व को**

बनाये रखने वाली एक उपयोगी विचारधारा का काम करती रही है।

इस रूप में, जाति व्यवस्था की विशिष्टता को स्वीकारा जाना चाहिए, क्योंकि अन्य समाजों के इतिहास में शासक वर्गों के प्रभुत्व और वर्चस्व को **वैधीकरण (लेजिटिमेशन)** प्रदान करने वाली विचारधाराओं में इस प्रकार की निरन्तरता का तत्व मौजूद नहीं रहा है। नये शासक वर्गों के आने के साथ आम तौर पर अन्य समाजों में शासक वर्ग के शासन को वैधीकरण देने वाली नयी विचारधाराओं में परिवर्तन का पहलू प्रधान रहा है। लेकिन भारतीय सामाजिक संरचना के इतिहास में जाति की विचारधारा में तमाम बुनियादी बदलावों के बावजूद उसका मूलभूत तत्व (कोर एलिमेण्ट) जो कि इसे निर्धारित और निरूपित करता है, वह समान रहा है। हालाँकि अलग-अलग सामाजिक संरचनाओं में इस विचारधारा को जिन चर राशियों पर लागू किया गया वे बिल्कुल बदल गयीं, और स्वयं इस विचारधारा के कार्यान्वयन में भी मूलभूत अन्तर आ गये।

आगे हम जाति व्यवस्था के उद्भव, प्राचीन भारत और मध्यकालीन भारत के ऐतिहासिक कालखण्डों में उसमें आये परिवर्तनों, और उन परिवर्तनों के मूल कारणों के रूप में मौजूद उत्पादन सम्बन्धों में आये परिवर्तनों और साथ ही आधुनिक भारत में और विशेष तौर पर औपनिवेशिक काल के उत्तरार्द्ध और स्वातन्त्र्योत्तर भारत में इसमें आये कुछ बुनियादी परिवर्तनों को चिन्हित करेंगे और उसके आधार पर अपनी उपरोक्त प्रस्थापनाओं को पुष्ट करने का प्रयास करेंगे।

वर्ण/जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास की व्याख्याएँ: इतिहास-लेखन की प्रमुख समस्याएँ

ऋग्वैदिक काल (जिसे आरम्भिक वैदिक काल भी कहा जाता है) के अन्तिम दौर में वर्ण व्यवस्था के भ्रूण रूप में विकसित होने और उत्तर-वैदिक काल में इसके सुदृढीकरण के बारे में इतिहासकारों में काफी विवाद है। वर्ण व्यवस्था के उदय के पीछे मूल कारक क्या थे और आगे जातियों के जन्म में किन कारकों की प्रमुख भूमिका थी, इन्हें लेकर भी इतिहासकारों में कई मत प्रचलित हैं। हम इन प्रमुख मतों को यहाँ संक्षेप में रखेंगे, और इनके बारे में अपनी राय को पेश करेंगे। वर्ण और जाति के बीच के फर्क पर भी हम आगे चर्चा करेंगे। **लेकिन इतिहास-लेखन का विश्लेषण भी ऐतिहासिक तौर पर होना चाहिए, क्योंकि इतिहास-लेखन का इतिहास भी इतिहास के बारे में उपयुक्त विचारों, व्याख्याओं और प्रस्थापनाओं को समझने के लिए अनिवार्य है।** इसलिए हम औपनिवेशिक दौर से शुरुआत करेंगे। उससे पहले के दौर में देशी और विदेशी प्रेक्षकों ने वर्ण/जाति व्यवस्था के बारे में जो विचार रखे थे, उनके

बारे में चर्चा कर पाना इस आलेख के दायरे से बाहर है। और हमारे विश्लेषण के लिए फिलहाल यह ज़रूरी भी नहीं है, क्योंकि भारतीय समाज में सामाजिक विभेदन की प्रक्रिया के व्यवस्थित अध्ययन मौटे तौर पर औपनिवेशिक दौर में ही शुरू हुए। आगे हम औपनिवेशिक काल में हुए जाति व्यवस्था के प्रमुख अध्ययनों और उनकी व्याख्याओं का एक संक्षिप्त ब्यौरा देंगे।

औपनिवेशिक काल की प्रमुख व्याख्याएँ

प्राचीन भारत के सामाजिक ढाँचे के व्यवस्थित अध्ययन की शुरुआत एक रूप में औपनिवेशिक प्रशासकों और अध्येताओं ने की। इनमें प्रमुख आरम्भिक प्रातिनिधिक रचना थी **जे.सी.नेस्फील्ड** की 'ए ब्रीफ व्यू ऑफ कास्ट सिस्टम ऑफ नॉर्थ-वेस्टर्न प्रॉविंसेज़ एण्ड अवध' जो कि 1855 में प्रकाशित हुई। नेस्फील्ड ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्थापना दी कि जाति व्यवस्था का बुनियादी आधार आनुवंशिक तौर पर पेशे का निर्धारित होना है। नेस्फील्ड के अनुसार प्राचीन भारत में दस्तकारों और कारीगरों के जो संघ (गिल्ड) थे वे ही जातियों में तब्दील हो गये थे। उनके बीच का पदानुक्रम उनके पुराने या नये होने से तय होता था। जितना नया कोई पेशा होता, उसकी पदानुक्रम में उतनी ही ऊँची स्थिति होती। इसके बाद भी तमाम औपनिवेशिक प्रशासकों और उस दौर के पश्चिमी अध्येताओं ने जाति व्यवस्था को परिभाषित और व्याख्यायित करने के प्रयास किये। इनमें फ्रांसीसी भारतविद् **चार्ल्स एमिली मैरी सेनार्त** की भूमिका अहम थी। सेनार्त पहले व्यक्ति थे जिन्होंने वर्ण और जाति में फर्क किया था। उनका मानना था कि वर्ण की अवधारणा वर्ग के ज़्यादा करीब है, जबकि जाति उससे एक हद तक स्वायत्त थी। बाद में, जातियाँ वर्ण में शामिल हो गयीं। जातियों का पदानुक्रम उनके लिए एक वास्तविक परिघटना थी, जबकि वर्णाश्रम व्यवस्था में बताया गया पदानुक्रम अवास्तविक और अवधारणात्मक था। सेनार्त के अनुसार विभिन्न इण्डो-यूरोपीय वंश समूहों को ब्राह्मणों ने वर्ण व्यवस्था में शामिल किया था, और उन्हें अधीनस्थ स्थिति प्रदान की थी ताकि वे अपना वर्चस्व बनाये रख सकें। इस विषय पर सेनार्त की सोच को ज़्यादातर इतिहासकारों ने खारिज कर दिया था। लेकिन सेनार्त का सबसे बड़ा योगदान था जाति और वर्ण में फर्क करना, जिसे आगे के इतिहास-लेखन में काफ़ी हद तक अपनाया गया।

हरबर्ट एच. रिसले जो कि भारत में जनगणना की शुरुआत करने वाले औपनिवेशिक प्रशासक थे, ने जाति/वर्ण व्यवस्था की अपनी व्याख्या पेश की। उनके अनुसार जातियों के उद्भव में नस्ली कारक प्रमुख था। उन्होंने नाक की लम्बाई के सूचकांक (नेज़ल इण्डेक्स) के ज़रिये आर्यों और अनार्यों के बीच का फर्क किया। रिसले द्वारा जातियों के आधार पर भारत की जनगणना की शुरुआत

करने के कारण भारत में जाति व्यवस्था काफी हद तक सुदृढ़ हुई, और इसके अलावा अपने समकालीन रूप में एक हद तक अशुभ भी हुई। रिसले की नस्ली व्याख्या का काफी बाद तक प्रभाव मौजूद रहा, हालाँकि स्वातन्त्र्योत्तर भारत में हुए इतिहास लेखन ने पुरातात्विक और साहित्यिक प्रमाणों के आधार निर्णायक रूप से इस नस्ली व्याख्या को खारिज कर दिया है।

रिसले के बाद जिस तत्कालीन पश्चिमी अध्येता का जाति व्यवस्था के अध्ययन पर सबसे गहरा असर पड़ा वह थे फ्रांसीसी समाजशास्त्री **सेलेस्टिन बूगले**, जो कि **एमिल दुर्खीम** के सहयोगी भी रहे थे। बूगले ने जाति व्यवस्था की जो व्याख्या पेश की थी, उसका बाद में एक अन्य फ्रांसीसी समाजशास्त्री **लूई दूमों** के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिनके विचारों पर हम आगे चर्चा करेंगे। लूई दूमों समाजशास्त्र में जाति के प्रश्न पर सबसे प्राधिकार-सम्पन्न अध्येता माने जाते हैं, हालाँकि उनके विचारों की बाद के इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों ने तीखी आलोचना की। फिलहाल, हम बूगले के विचारों पर आते हैं। सेलेस्टिन बूगले का मानना था कि जाति व्यवस्था की पहचान **तीन चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं** से की जा सकती है। पहला, आनुवंशिक रूप से निर्धारित पेशा; दूसरा, पदानुक्रम; और तीसरा, प्रतिकर्षण (रिपल्शन), यानी कि एक जाति का दूसरी जाति से अलगाव। बूगले इस विचार को नहीं मानते थे कि ब्राह्मणों ने जाति व्यवस्था की रचना की है। इसके विपरीत, जाति व्यवस्था सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप पैदा हुई और ब्राह्मणों ने इसे वैधीकरण प्रदान किया। इसमें मौजूद पदानुक्रम के पीछे शुद्धता (प्यूरिटी) और प्रदूषण (पल्यूशन) का विचार प्रमुख था। रिसले की नस्ली व्याख्या को बूगले ने सिरे से खारिज कर दिया। अपने समय में बूगले के अध्ययन को जाति व्यवस्था के सबसे गम्भीर और प्रभावी अध्ययनों में माना जा सकता है। बूगले ने भी सेनार्त के इस विचार को स्वीकार किया था कि वर्ण व्यवस्था एक आदर्शकृत अवधारणा है जबकि जातियाँ एक यथार्थ।

1947 से पहले के जाति व्यवस्था के प्रमुख अध्येताओं में आखिरी थे **जे. एच. हटन** जिनकी पुस्तक '**कास्ट इन इण्डिया**' 1946 में छपकर आयी थी। हटन का मानना था कि उस समय तक जाति व्यवस्था की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त अनुपयुक्त थे, जो कि जाति के यथार्थ को सही तरीके से नहीं पकड़ते थे। जाति की विशेषताओं में उन्होंने पन्द्रह गुण गिनाये, जिसमें परिवेशीय अलगाव, जादुई आस्थाएँ, टोटकावाद, शुद्धता-प्रदूषण के विचार, कर्म का सिद्धान्त, नस्लों का टकराव, त्वचा के रंग को लेकर मौजूद पूर्वाग्रह, और पदानुक्रम का प्रयोग कर शोषण करने की प्रवृत्ति प्रमुख थे। लेकिन हटन के पूरे सिद्धान्त में तमाम विसंगतियाँ थीं। एक तो यह कि जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास के बारे

में वह कोई कारणात्मक व्याख्या नहीं रखते हैं, और उनके लिए जाति एक अलग-अलग सामाजिक समूहों का योग बन जाती है। उनके बीच के आपसी सम्बन्धों को समझने में हटन पूरी तरह नाकाम रहे थे। दूमों, **पोर्कॉक** समेत तमाम उत्तरवर्ती समाजशास्त्रियों ने हटन के सिद्धान्त को खारिज किया। यह एक प्रकार का सार-संग्रहवादी सिद्धान्त था, जो कि जाति व्यवस्था के अलग-अलग प्रतीतिगत लक्षणों की एक सूची तैयार करता था।

औपनिवेशिक दौर में कुछ भारतीय अध्येताओं ने भी जाति व्यवस्था के समाजशास्त्रीय अध्ययन किये थे। लेकिन हमने ऊपर जिन व्याख्याओं की चर्चा की है, उनके अध्ययन उनके विचारों से ही मिलते-जुलते थे। 1911 में **एस. एन. केतकर** ने अपनी पुस्तक '*हिस्ट्री ऑफ कास्ट इन इण्डिया*' प्रकाशित की थी, जिसमें उन्होंने सेलेस्तीन बूगले के विचारों से मिलते-जुलते विचार रखे थे और नस्ती सिद्धान्त को खारिज किया था। पंजाब की जातियों के बारे में 1916 में **डी. इबेटसन** ने अपनी पुस्तक '*पंजाब कास्ट्स*' प्रकाशित की थी। इसमें उन्होंने जातियों के उद्भव के पीछे जनजातियों की भूमिका पर बल दिया था। लेकिन, आज़ादी के पहले जो जाति व्यवस्था के जो प्रमुख व्याख्यात्मक ढाँचे थे वे उपरोक्त थे।

यहाँ पर आगे बढ़ने से पहले यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि **रोनाल्ड इण्डेन**, **निकोलस डर्क्स**, और कई **सबऑल्टर्न इतिहासकारों**, जैसे कि **पार्थ चटर्जी** ने औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा जाति व्यवस्था के अध्ययनों पर यह विचार रखे हैं, कि वे जाति व्यवस्था का आविष्कार या उसकी कल्पना करते हैं। जाति व्यवस्था को भारत में अशुभ रूप में स्थापित करने का काम औपनिवेशिक शासक वर्ग ने किया। औपनिवेशिक राज्यसत्ता ने भारत की जनता के प्रतिरोध को तोड़ने के लिए आर्थिक और राजनीतिक उपायों के अलावा ज्ञान और संस्कृति का उपयोग भी किया। उनके अनुसार तो यह ज्ञान और संस्कृति का उपयोग आर्थिक और राजनीतिक कारकों से भी ज़्यादा महत्व रखता है। जाति उनके विचार में उपनिवेशवादियों की निर्मिति बन जाती है। इस पूरे दृष्टिकोण के साथ दो समस्याएँ हैं। एक तो यह कि जब आप यह मानते हैं कि जाति व्यवस्था उपनिवेशवादियों की निर्मिति (कंस्ट्रक्ट) है, औपनिवेशिक ज्ञान का एक नमूना है जो कि भारतीय लोगों पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए तैयार किया गया था, तो आप अनकहे तौर पर उपनिवेशवाद के पहले के दौर के भारत के प्रति अनालोचनात्मक हो जाते हैं। आप हर गड़बड़ी को प्रबोधनकालीन तर्कणा और आधुनिकता पर थोपकर साम्राज्यवाद, जाति व्यवस्था, साम्प्रदायिकता आदि सभी को औपनिवेशिक निर्मिति करार देते हैं, और ब्रिटिश-पूर्व भारत का जाने-अनजाने महिमा-मण्डन कर बैठते हैं। मिसाल के तौर पर, निकोलस डर्क्स का मानना है

कि उपनिवेशवाद के आने के पहले भी भारत में जाति मौजूद थी, लेकिन वह तमाम सामाजिक पहचानों में से एक थी। लेकिन उपनिवेशवाद ने जाति को एकमात्र प्रभावी पहचान के रूप में निर्मित किया और समूची भारतीय आबादी को उसी में श्रेणीबद्ध कर दिया। इसके ज़रिये पश्चिम (ऑक्सिडेंट) ने प्राच्य (ओरियेंट) को नीचा दिखाने, सभ्यता के तौर पर हीन बनाने, और भारतीय लोगों को पिछड़ा और आदिम दिखाने में कामयाब हुए। जाति को भारतीय जनता की नैसर्गिक विशिष्टता के तौर पर पेश किया गया और इसकी निन्दा की गयी। लेकिन इस पूरे दृष्टिकोण के बारे में यह कहा जा सकता है कि जहाँ एक ओर उपनिवेशवाद ने जाति व्यवस्था को अशमीभूत करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और जातिगत विभेद को रूढ़ बनाया, वहीं यह भी सच है कि उपनिवेशवाद के स्थापित होने के बाद भी भारतीय समाज में बहुल अस्मिताएँ मौजूद थीं। मिसाल के तौर पर भाषाई और जनजातीय और उनके आधार पर भी राजनीति होती थी।

दूसरी बात यह कि उपनिवेशवादियों के प्रभुत्व की परियोजना में राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व गौण नहीं था, बल्कि भारतीय समाज पर शासन करने के लिए उसे जानने के जो प्रयास उपनिवेशवादियों ने किये, वे उसी राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व को सम्भव और ज़्यादा असरदार बनाने के लिए किये गये थे। यह कोई साज़िश नहीं थी। वास्तव में, उपनिवेशवादियों का यह मानना था कि भारत पर बेहतर तरीके से शासन करने के लिए भारत को जानना होगा। 1784 में विलियम जॉंस द्वारा एशियाटिक सोसायटी की स्थापना से ही यह प्रक्रिया शुरू हो गयी थी और बाद तक जारी रही। हम यह ज़रूर कह सकते हैं कि उपनिवेशवादियों को अपने इस प्रयास में सफलता और असफलता, दोनों का ही सामना करना पड़ा और वे भारत को “सही तरीके से” समझने में पूरी तरह कामयाब नहीं हो पाये! लेकिन उनकी असफलता को सचेतन साज़िश और निर्मित का नाम देना, जबर्न उत्तरआधुनिकतावादी, उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त, और प्राच्यवाद के आधुनिकता-विरोध और प्रबोधन-विरोध को भारतीय इतिहास पर थोपना है। **सूज़न बेली** ने अपनी पुस्तक *कास्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन एटीन्थ सेंचुरी इण्डिया* में अपने दृष्टिकोण से (जिसकी हम निश्चित तौर पर आलोचना कर सकते हैं) निकोलस डर्क्स की इस सोच की आलोचना की है, और कहा है कि ब्राह्मणवाद और उसका वर्चस्व उपनिवेशवाद की पैदावार नहीं थे, हालाँकि वे इससे मज़बूत ज़रूर हुए। औपनिवेशिक ज्ञान के निर्माण में भी इन ब्राह्मणों ने अहम भूमिका निभायी और इस पूरी प्रक्रिया में औपनिवेशिक राज्य और देशी कुलीनों के बीच के आपसी सहयोग को देखा जा सकता है। देशी कुलीन और सामन्ती वर्गों और औपनिवेशिक सत्ता के बीच का सहयोग कोई कल्पना या

निर्मिति नहीं था, बल्कि एक यथार्थ था।

इसलिए, उपनिवेशवादियों द्वारा किये गये जाति-सम्बन्धी अध्ययनों को प्रबोधन की तर्कणा के षड्यन्त्र के तौर पर पेश करना और 'प्राच्य मासूमियत' (आशीष नन्दी) को 'पैस्सिव विक्टिम' के तौर पर दिखलाने के प्रयास व्यर्थ हैं। आधुनिकता और प्रबोधन के विरोध के नाम पर सबऑल्टर्न स्टडीज़ के इतिहासकार और एडवर्ड सईद के प्राच्यवाद और उत्तरआधुनिकतावाद से प्रेरित अन्य अकादमिक जिस उपनिवेशवाद-पूर्व अतीत का जश्न मनाते हैं, वास्तव में, वह ऐसे इतिहासकारों की कल्पना की उड़ान और मानसिक निर्मिति है। सुमित सरकार ने अपनी पुस्तक *बियाँड नेशनलिस्ट फ्रेम्स* में दिखलाया है कि उपनिवेशवाद की यह सांस्कृतिक आलोचना अन्त में धुरदक्षिणपन्थ के पुनरुत्थानवाद के पक्ष में जाकर खड़ी हो जाती है, हालाँकि ऊपरी तौर पर वह साम्प्रदायिकता को भी औपनिवेशिक निर्मिति ही बताती है² (जो कि जाति के विषय में कही गयी बात के मुकाबले ज़्यादा सही है)। यह पूरा तर्क एक चक्रीय और आत्मपराजयकारी तर्क है।

स्वातन्त्र्योत्तर समाजशास्त्रीय अध्ययन: इतिहास की उपेक्षा और जाति व्यवस्था का अतिमूलकरण (एसेशियलाइज़ेशन)

सुवीरा जायसवाल ने अपनी पुस्तक *कास्ट: ओरिजिन, फंक्शन एण्ड ड्राइमेंशंस ऑफ चेंज* में स्वातन्त्र्योत्तर समाजशास्त्रीय अध्ययनों के बारे में टिप्पणी करते हुए कहा है कि ये अध्ययन इतिहास के पहलू को एक प्रकार से उपेक्षित करते हैं। इन अध्ययनों का पूरा जोर जाति के समकालीन स्वरूप की बारीकियों का अध्ययन करने पर होता है, लेकिन उसके उद्भव तक जाने का ये प्रयास नहीं करते, या कम-से-कम संजीदगी से नहीं करते। यह बात काफ़ी हद तक सही प्रतीत होती है। चूँकि जाति व्यवस्था का अध्ययन करते हुए ये समाजशास्त्री उसके उद्भव और मूल की उपेक्षा करते हैं और उसे केवल उसकी समकालीनता में देखते हैं, इसलिए उनके अध्ययन बेहद अलग और अधूरे नतीजे तक पहुँचते हैं। अलग-अलग क्षेत्रों में जातियों के बीच अलग-अलग पदानुक्रम के मिलने पर वे अचम्भित होते हैं, और उसके बाद उसके सैद्धान्तिकीकरण के प्रयासों में वे विचित्र नतीजों तक पहुँच जाते हैं। निस्सन्देह रूप से उनके अध्ययन समकालीन जाति व्यवस्था के बारे में कई अन्तर्दृष्टियाँ देते हैं। लेकिन इन अन्तर्दृष्टियों का वे बेहतर उपयोग नहीं कर पाते, बल्कि इतिहासकार करते हैं।

इन समाजशास्त्रियों में सबसे प्रसिद्ध थे लूई दूमों, जिनकी पुस्तक *होमो हाइराकिंस* जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियों के लिए बाइबिल जैसा महत्व रखती है, चाहे वे उससे सहमत हों या असहमत। इसका

एक कारण यह है कि दूमों की व्याख्या बहुत ही तराशी हुई है। उसमें कहीं कोई बड़ा अन्तरविरोध नहीं दिखता। अलग-अलग अवधारणाएँ एक बारीकी से तराशे हुए ढाँचे में फिट कर दी गयी हैं। जैसा पुस्तक का नाम ही दिखला रहा है, यह उन लोगों या समुदायों के बारे में है, जो कि समानता के सिद्धान्त को नहीं मानते। दूमों के अनुसार पश्चिम का मनुष्य अपने व्यक्तिवाद के कारण समानता के सिद्धान्त में यकीन करता है (**होमो इक्वालिंस** या **होमो इकोनॉमिकस**)। लेकिन हर समाज को पदानुक्रम की ज़रूरत पड़ती है। दूमों के अनुसार जैसे ही आप किसी मूल्य को अपनाते हैं, आप वास्तव में एक पदानुक्रम को स्वीकार कर रहे होते हैं। हिन्दू समाज की सबसे बड़ी खासियत यह है कि यह पदानुक्रम सामंजस्यपूर्ण है। इस पदानुक्रम यानी कि जाति व्यवस्था का भौतिक और आर्थिक कारकों से कोई लेना-देना नहीं है। जाति व्यवस्था को निर्धारित करने और यहाँ तक कि निर्मित करने वाला तत्व है **कर्मकाण्डीय पदानुक्रम (रिचुअलिस्टिक हाईरार्की)**। यह कर्मकाण्डीय सिद्धान्त वह बुनियादी संरचना है (**लेवी स्ट्रॉस** वाले अर्थों में) जो कि वास्तविकता को निर्धारित कर रहा है। ब्राह्मणवादी कर्मकाण्डी विचारधारा हिन्दू समाज में सामाजिक यथार्थ का निर्माण करती है। इस विचारधारा का सबसे बुनियादी तत्व है शुद्धता और प्रदूषण के सिद्धान्त के आधार पर एक समूचे सामाजिक पदानुक्रम की रचना करना जिसमें ब्राह्मण शीर्ष पर हैं, और अस्पृश्य सबसे नीचे। हर जाति अन्य जातियों से अपने सम्बन्धों के आधार पर परिभाषित होती है, और नतीजे के तौर पर हमें पदानुक्रम में व्यवस्थित जातियों का एक पूरा ढाँचा मिलता है। दूमों के पास इस सवाल का जवाब भी है कि शुद्धता और प्रदूषण का विचार कहाँ से आया है! उनका कहना है कि यह वह मूलभूत मूल्यों की संरचना है जो कि यथार्थ का निर्माण करती है, और यह पूर्वप्रदत्त है। ऐसा मूल्य समुच्चय हर समाज में होता है। पदानुक्रम एक अनिवार्य मूल्य है और हर समाज को इसकी ज़रूरत होती है। जाति व्यवस्था इस रूप में हिन्दू समाज को एक ऐसा पदानुक्रम का ढाँचा देती है, जो कि अप्रतिस्पर्द्धापूर्ण है, सामंजस्यपूर्ण है, अपरिवर्तनीय है और समाज को स्थिर बनाता है। दूमों इन सारी विशिष्टताओं को बार-बार पश्चिमी समाज के बरक्स रखते हैं, और यह सवाल एक प्रकार से अन्तर्निहित होता है कि समानता और व्यक्तिवाद के मूल्यों ने पश्चिमी सभ्यता को क्या दिया? इस प्रकार से दूमों, **जेराल्ड बारैमैन** के शब्दों में, जाति का ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं। यह एक प्रकार से जाति व्यवस्था को सही ठहराये जाने के समान है। दूमों इस बात की कोई व्याख्या नहीं कर पाते हैं कि उद्योगों और पूँजीवाद के विकास के साथ जाति-सम्बन्धी पेशागत बन्धन और खान-पान के पूर्वाग्रह कम होते गये हैं, जैसा कि **जी.एस. घूर्ये** और **ई.के. गफ** ने प्रदर्शित किया था, और जिसे दूमों भी मानने के लिए मजबूर हैं;

जो एकमात्र गुण बचा है वह है सजातीय विवाह। दूमों मानते हैं कि इन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक बदलावों से जाति व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, वे जाति व्यवस्था के भीतर ही समाहित हो जाते हैं। इन परिवर्तनों से दूमों कोई नतीजा नहीं निकालते हैं। दूमों के लिए हिन्दू समाज अपनी जाति व्यवस्था और पदानुक्रम के साथ एक आदर्श, अपरिवर्तनशील समाज बन जाता है। जाहिर है, दूमों की व्याख्या के खण्डन के लिए हमें ज़्यादा शब्द खर्च करने की ज़रूरत नहीं है।

जवीद आलम ने एक जगह सही ही टिप्पणी की है कि ऐसे ज़्यादातर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वास्तव में मार्क्सवाद और भौतिकवादी द्वन्द्ववादी ऐतिहासिक पद्धति के साथ एक **प्रच्छन्न युद्ध (शैडो बॉक्सिंग)** के लिए रचे जाते हैं। दरअसल, एक जगह दूमों **मार्क्स** की आलोचना करते हैं कि उन्होंने रेलवे और बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के साथ जाति के खात्मे की बात कही थी। वास्तव में वहाँ मार्क्स जातिगत आनुवंशिक श्रम विभाजन के टूटने की बात कर रहे थे, और इस मायने में मार्क्स की भविष्यवाणी कमोबेश सही सिद्ध हुई है। दूमों के अनुसार चूँकि भारतीय सामाजिक ढाँचा अपरिवर्तनीय है, चिरन्तन है, इसलिए उसका कोई इतिहास नहीं लिखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण पुराने औपनिवेशिक दृष्टिकोण के काफी करीब जाकर खड़ा होता है, जिसे कि **ई.पी. थॉम्सन** के पिता **एडवर्ड जॉन थॉम्सन** ने काफी अच्छी अभिव्यक्ति दी थी। थॉम्सन ने कहा था कि भारत इतिहास से बिल्कुल वंचित देश है। **इरफ़ान हबीब** ने दूमों के इस विचार के बारे में ठीक ही लिखा है:

“अगर भारत का इतिहास को ऐसा होना है, ताकि एक समकालीन पश्चिमी समाजशास्त्री की जाति व्यवस्था की कल्पना के साथ वह फिट बैठे, तो क्या इस बात की ज़्यादा सम्भावना नहीं है कि इस कल्पना के साथ कुछ गड़बड़ है, न कि भारतीय इतिहास के साथ?...पिछले सौ से कुछ अधिक वर्षों के दौरान, आनुवंशिक श्रम विभाजन अगर पूरी तरह बिखरा नहीं है, तो कम-से-कम बुरी तरह से झकझोर दिया गया है। नतीजतन, यह पहलू जाति के जीवित बचे क्षेत्र के भीतर काफी हद तक पृष्ठभूमि में चला गया है। हालाँकि, शुद्ध रूप से धार्मिक और व्यक्तिगत पहलू कम प्रभावित हुए हैं। (आप देख सकते हैं कि यह बात सिर्फ भारत की विशिष्टता नहीं है: धार्मिक विचारधारा उस समाज के गायब हो जाने के काफी बाद तक जीवित रहती है, जिसे तर्कसंगत आधार देने का काम वह विशिष्ट धर्म कर रहा था।)” (इरफ़ान हबीब, 1995. *कास्ट इन इण्डियन हिस्ट्री*, ‘एसेज़ इन इण्डियन हिस्ट्री’, पृ. 164 तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली, अनुवाद हमारा)

दूमों के बाद भी तमाम समाजशास्त्रियों ने जाति व्यवस्था का अध्ययन किया है। उन्होंने स्वातन्त्र्योत्तर भारत में हरेक जाति में पैदा हुए धनी कुलीन वर्गों द्वारा जातिगत चेतना के इस्तेमाल की ओर ध्यानाकर्षण किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार चुनावी राजनीति में जातिगत समीकरणों का इस्तेमाल होता है। उनके अध्ययन से हमें दो पहलू दिखलायी पड़ते हैं, जो कि आज जातिगत राजनीति की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता बने हुए हैं। एक तो यह कि हरेक जाति में, जिसमें कि दलित जातियाँ भी शामिल हैं, एक धनिक वर्ग पैदा हुआ है, जोकि वोटों के लिए और संसाधनों के भोगाधिकार या उन तक पहुँच पर अपने एकाधिकार को स्थापित करने के लिए अपनी जाति के आम लोगों की जातिगत चेतना का आवाहन करते हैं। बसपा, सपा, राजद आदि की राजनीति में इस पहलू को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, और यहाँ तक कि भाजपा और कांग्रेस के तमाम चुनावी उम्मीदवार ज़मीनी स्तर पर अपनी जातिगत पहचान का इस्तेमाल करते हैं और जातिगत समीकरण बनाते हैं। इसके बाद, जब चुनावी नतीजे सामने आ जाते हैं तो विभिन्न जातियों के कुलीन आपसी मोलभाव, सौदे और बातचीत करते हैं और लेन-देन के आधार पर शासकीय गठबन्धन तैयार किये जाते हैं। यानी कि शासक वर्ग अपनी आपसी प्रतिस्पर्द्धा में जातिगत समीकरणों का इस्तेमाल करता है। दूसरा पहलू जो कि इससे भी महत्वपूर्ण है वह यह है कि तमाम जातियों, जिसमें कि दलित जातियाँ भी शामिल हैं, के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली चुनावी पार्टियाँ इन जातियों के कुलीनों के चुनावी दल हैं, और अलग-अलग जातियों के ये कुलीन वर्ग जनता के दमन में आपसी सहयोग करते हैं, और जनता को बाँटे रखने के लिए जातिगत चेतना को बढ़ावा देने का काम करते हैं। इन महत्वपूर्ण अन्तर्दृष्टियों के बावजूद इन समाजशास्त्रीय अध्ययनों की सबसे बड़ी खामी यह है कि ये जाति के इतिहास पर गम्भीर दृष्टि नहीं डालते। चलते-चलाते किये गये उल्लेखों को छोड़ दिया जाय, तो जाति/वर्ण व्यवस्था के उद्भव और उत्तरवर्ती विकास के बारे में इनकी समझदारी अनुपयुक्त है। यही कारण है कि ये जाति की परिघटना में होने वाले परिवर्तनों की कोई व्याख्या नहीं कर पाते। उनका पूरा ध्यान-केन्द्रण जाति की समकालीन परिघटना की गतिकी का अध्ययन करने पर होता है। लेकिन विडम्बना की बात यह है कि इस गतिकी के बारे में भी कोई सन्तुलित समझदारी तभी बन सकती है, जबकि जाति/वर्ण व्यवस्था के उद्गम और विकास के बारे में कोई स्पष्ट नज़रिया हो।

ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव ही तमाम समाजशास्त्रियों को जाति व्यवस्था की गतिकी नहीं समझने देता और अक्सर समाजशास्त्री जाति व्यवस्था को एक स्थैतिक तन्त्र के रूप में समझते हैं, जो कि हिन्दू/भारतीय समाज की पहचान है और यह उसका मूल गुण या तर्क है। यह सदा से रहा है, और सदा रहेगा।

कई बार ऐसे सैद्धान्तिकीकरण जाति व्यवस्था को सही ठहराने तक चले जाते हैं, जैसे कि **पी.ए. सोरोकिन**। सोरोकिन ने जाति व्यवस्था के कई युगों से मौजूद रहने को, यानी कि उसके टिकाऊपन को उसके सहीपन का आधार बना दिया था। उनकी दलील थी कि यह समाज में व्यक्तियों के बीच एक सन्तोषजनक पदानुक्रम देता है और यही कारण है कि वह अभी तक मौजूद है। इसमें भी आप यह पूर्वधारणा अन्तर्निहित रूप में देख सकते हैं कि जाति व्यवस्था एक अपरिवर्तनशील परिघटना है, जो कि प्राचीन काल से हिन्दू समाज को एक स्थायित्व प्रदान कर रही है। इसी प्रकार **निर्मल बसु** ने भी जाति व्यवस्था को एक स्थायित्व प्रदान करने वाला अपरिवर्तनशील कारक माना है। उनके अनुसार जाति व्यवस्था समाज में लोगों को उजड़ने से बचाती है, क्योंकि वह उनके पेशों पर उनके अधिकार को सुनिश्चित करती है। पेशों पर एकाधिकार लोगों को एक सुरक्षा प्रदान करता है।

इन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में जाति व्यवस्था को स्थैतिक रूप में देखने की जो प्रवृत्ति है, उनके कारण हम इन अलग-अलग समाजशास्त्रियों में नहीं खोज सकते हैं। हमें यह समझना होगा कि यह कमी वास्तव में समाजशास्त्र की अकादमिक शाखा की कमी है। समाजशास्त्र की शाखा को खड़ा ही इसलिए किया गया था कि मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया जा सके। मिसाल के तौर पर, पदानुक्रम को हर समाज की अनिवार्य आवश्यकता मानने का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को भी एक प्रकार से वैधता प्रदान करता है और मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तुत समानतामूलक समाज के लक्ष्य पर ही एक प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। बाद में, मार्क्सवाद द्वारा प्रस्तुत जवाब के समक्ष समाजशास्त्रीय शाखा में भी कई परिवर्तन आये और तमाम मार्क्सवादी समाजशास्त्री भी पैदा हुए, जिन्होंने **वेबर** और **दुर्खीम** के साथ **मार्क्स** को भी समाजशास्त्र की शाखा के जनक के तौर पर स्थापित किया। समाजशास्त्र का बुनियादी पूर्वाग्रह या पूर्वधारणा एक प्रत्यक्षवादी पूर्वधारणा है, जिसके मूल **ऑग्यूस्ट कोन्ते** के विचारों में ढूँढे जा सकते हैं। हम इस आलेख में समाजशास्त्र की पूरी ज्ञान शाखा की आलोचना नहीं कर सकते हैं, लेकिन इतना स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था के समाजशास्त्रीय अध्ययनों में मौजूद खामी का मूल इस पूरी ज्ञान शाखा में मौजूद ऐतिहासिक दृष्टि की कमी, बल्कि एक प्रकार का सचेतन निषेध है। नतीजतन, समकालीनता को इतिहास से पूरी तरह काट कर किया गया अध्ययन टुकड़े-टुकड़े में कुछ मूल्यवान अन्तर्दृष्टियाँ देता है, लेकिन जाति व्यवस्था की व्याख्या का कोई सुसंगत अप्रोच या पद्धति नहीं देता।

इन समाजशास्त्रीय व्याख्याओं के अलावा, **जी.एस. घूर्ये** द्वारा जाति व्यवस्था

का अध्ययन भी एक अहम योगदान था। घूर्ये ने मोटे तौर पर जाति व्यवस्था के नस्लीय मूल पर ज़ोर किया था। उनके अलावा कुछ अन्य समाजशास्त्री भी थे, जैसे कि **एन.के. दत्त**, **डी.एन. मजूमदार** और **आर.पी. चन्द्र** जिन्होंने इस नस्ली मूल के सिद्धान्त का समर्थन किया था। इनके मुताबिक आर्यों ने भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र पर हमला किया, और द्रविड़िय मूल के लोगों को अपने अधीन किया। इस अधीनस्था आबादी को ढाँचागत तौर पर अधीन रखने के लिए ब्राह्मणों ने शुद्धता/प्रदूषण के सिद्धान्त की रचना की। इसी सिद्धान्त के आधार पर ब्राह्मणों की तुलना में सापेक्षिक शुद्धता/प्रदूषण के आधार पर जाति पदानुक्रम की रचना हुई और जाति व्यवस्था अस्तित्व में आयी। लेकिन जैसा कि सुवीरा जायसवाल ने बताया है, इस सिद्धान्त के लिए प्रमाण मौजूद नहीं हैं। समाजशास्त्रियों ने वर्ण और जाति के बीच फर्क को लेकर भी काफी बहस की है। **मैक्स वेबर** ने वर्ण को यूरोपीय 'एस्टेट' से मिलती-जुलती परिघटना माना था। **ट्राउटमैन** ने जाति को एक वास्तविक परिघटना और वर्ण को 'एस्टेट' जैसी परिघटना करार दिया था। कई समाजशास्त्री यह मानते हैं कि वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था की एक किताबी तस्वीर पेश करती है, जो कि एक आदर्शकृत श्रेणीकरण प्रदान करती है। जातियाँ वास्तविक परिघटना हैं, जो कि अपने पैदा होने के साथ इन वर्णों में स्थापित होती गयीं। इसीलिए वर्ण का चरित्र देशव्यापी है, जबकि इनमें जातियों की सहयोजित होने के अलग-अलग स्थानीय पैटर्न देखे जा सकते हैं। लेकिन एक बात हर जगह समान है। हर जाति की शुद्धता की परिभाषा का पैमाना, या उसे मापने की इकाई ब्राह्मण की उच्चतम शुद्धता होती है। यानी सारी जातियाँ जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों से अपनी सापेक्ष दूरी के अनुसार स्थान पाती हैं। जाति और वर्ण की अवधारणा में समाजशास्त्री जो फर्क स्थापित करते हैं, वह भी केवल और केवल समकालीन जाति व्यवस्था के अधार पर स्थापित किया गया फर्क है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि इन दोनों अवधारणाओं में फर्क है। लेकिन इनके उद्भव और विकास को समझे बगैर समाजशास्त्रियों ने वर्ण व्यवस्था को जिस प्रकार से '**बुक व्यू ऑफ कास्ट**' और जातियों को '**फील्ड व्यू ऑफ कास्ट**' का नाम दिया है, वह पूरी तरह से अनैतिहासिक है। प्राचीन इतिहास दिखलाता है कि शुरुआती दौर में वर्ण और जाति का प्रयोग एकार्थी रूप में किया जाता था। लेकिन वर्ण व्यवस्था शब्द के प्रयोग का अर्थ था कि उस चार वर्णों की क्लासिकीय आदर्शकृत व्यवस्था की बात की जा रही है जिसका जिक्र पहली बार ऋग्वेद के उत्तरवर्ती हिस्से के '**पुरुषसूक्त**' में की गयी थी, जिसके अनुसार वैदिक समाज चार सामाजिक श्रेणियों में विभाजित था—ब्राह्मण, राजन्य, विश व शूर्द जाति शब्द के प्रयोग का अर्थ था कि हम उन जनजातीय समूहों की बात कर रहे हैं जिन्हें वैदिक समाज

में शामिल कर लिया गया था, और विभिन्न कारकों के प्रभाव के अनुसार उन्हें चार वर्णों की व्यवस्था में किसी वर्ण का अंग मान लिया गया था। लेकिन जब तक जातियों का उदय नहीं हुआ था तब तक जाति और वर्ण शब्द का इस्तेमाल एक ही अर्थ में किया जाता था। जाति शब्द का पहला उल्लेख 200 वर्ष ईसा पूर्व से पहले के दौर में मिलता है। **सुवीरा जायसवाल** का विचार है कि अभी वर्ण व्यवस्था के भीतर जातियों की संख्या में वृद्धि की परिघटना व्यापक रूप में शुरू नहीं हुई थी और वैदिक काल के ठीक बाद के साहित्य में और विशेषकर बुद्ध के दौर के स्रोतों में जाति शब्द का जिक्र अपनेआप में जातियों की व्यवस्था के पूरी तरह से अस्तित्व में आने की निशानी नहीं थी। वास्तव में अभी भी जाति शब्द का इस्तेमाल वर्ण के रूप में ही हो रहा था। वर्ण से जाति की ओर का संक्रमण किस प्रकार हुआ इसके बारे में इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं और इसे सन्तोषजनक रूप से समझने के लिए प्राचीन भारत के इतिहास-लेखन पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालना आवश्यक होगा।

जाति व्यवस्था का उद्गम और विकास: इतिहास-लेखन की समस्याएँ

सुवीरा जायसवाल बताती हैं कि **पाणिनी** के 'अष्टाध्यायी' में जाति और वर्ण दोनों का इस्तेमाल किया गया है। पाणिनी का काल 200 ईसा पूर्व के आस-पास था। **वराहमिहिर** के 'बृहत्संहिता' में भी जाति और वर्ण दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। लेकिन 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में इन दोनों शब्दों में एक जगह पर फर्क किया गया है, और कई बार उनका प्रयोग एक अर्थ में भी किया गया है। स्पष्ट है कि 200 ईसवी पूर्व तक जातियों की व्यवस्था का विकास किसी मुकम्मिल मुकाम तक नहीं पहुँचा था।

प्राचीन भारत के इतिहासकारों में **इरावती कर्वे** और **रोमिला थापर** (अपने तमाम आपसी फर्कों के बावजूद) यह मानते हैं कि जाति व्यवस्था के उद्गम को वास्तव में आर्यों के आने से पहले हड़प्पा सभ्यता में तलाशा जाना चाहिए। रोमिला थापर का मानना है कि जाति व्यवस्था के कुछ बुनियादी तत्व जैसे कि आनुवंशिक तौर पर विभाजित समूह जो कि विवाह को नियन्त्रित करते थे, शुद्धता/प्रदूषण का विचार और जजमानी की व्यवस्था के तत्व हड़प्पा संस्कृति में ही मौजूद थे। रोमिला थापर का मानना है कि मोहनजोदड़ो का विशाल स्नानागार शुद्धता/प्रदूषण से जुड़े किसी कर्मकाण्ड के लिए ही था। लेकिन यह प्रस्थापना खण्डित तथ्यों और प्रमाणों के मिलान पर आधारित कल्पना ज़्यादा प्रतीत होती है। आर्यों को जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था के निर्माण के अपराध से मुक्त कर दिया जाता है और जाति व्यवस्था भारतीय उपमहाद्वीप की एक नैसर्गिक

उत्पत्ति बन जाती है। यानी, जाति व्यवस्था में कुछ है जो बिल्कुल भारतीय है। यह भारतीय जीवन और विचार पद्धति का प्रमुख गुण बन जाती है। ऐसे विचार पहले भी पेश किये गये थे। निश्चित तौर पर, रोमिला थापर का विचार जाति व्यवस्था का भारतीयतावादी अतिमूलकरण करना नहीं है, लेकिन उनकी थीसिस वस्तुगत तौर पर इन नतीजे का समर्थन करती है। और सबसे अहम बात यह है कि इसके प्रमाण नहीं मौजूद हैं, उल्टे इसके विपरीत प्रमाण मिल जाते हैं।

अगर प्राचीन भारत के इतिहास में वर्ण व्यवस्था के उदय पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि यह अभिन्न रूप से समाज में वर्गों, राज्यों और पितृसत्ता के उदय से जुड़ा हुआ है। इस इतिहास की एक सुसंगत समझदारी इसलिए ज़रूरी है क्योंकि इसके बगैर जाति और जाति व्यवस्था से जुड़ी मानसिकता की ऐतिहासिकता को नहीं समझा जा सकता है, और हमारे लिए भी जातिगत मानसिकता और जाति व्यवस्था भारतीय जनता की नैसर्गिक विशेषता बन जायेगी। प्राचीन भारतीय इतिहास की द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या की शुरुआत दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी के साथ मानी जा सकती है। कोसाम्बी के अनुसार ऋग्वैदिक काल के अन्त में वर्ण व्यवस्था के उद्गम के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन जातियों की व्यवस्था की शुरुआत इसके साथ ही नहीं होती है। जब वैदिक सभ्यता का उत्तर पश्चिमी सीमान्त से पूर्व की ओर विस्तार हुआ तो नयी जनजातियों के वैदिक समाज में शामिल होने के साथ जातियों का उद्भव हुआ। इस पर हम आगे विस्तार से अपनी बात रखेंगे। **मार्टन क्लास** ने भी जातियों की व्यवस्था के उदय का अध्ययन किया। क्लास इस नतीजे पर पहुँचे कि जातियों की व्यवस्था का उद्भव प्रागैतिहासिक काल में ही हो जाता है जब कृषि की शुरुआत हुई। कृषि योग्य भूमि तक पहुँच रखने वाले कबीले ऊँची जातियों में तब्दील हो गये जबकि अन्य क्षेत्रों से इन इलाकों में आने वाली जनजातियाँ निम्न जातियों में तब्दील हुईं। इन जातियों ने स्वैच्छिक रूप से उन जातियों के समक्ष एक अधीनस्थ स्थिति को स्वीकार कर लिया जो कि पहले से कृषि योग्य क्षेत्र तक पहुँच रखती थीं और कृषि में लगी हुईं थीं। लेकिन इस सिद्धान्त के पक्ष में ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद नहीं हैं। इस सिद्धान्त के पीछे जो धारणा काम कर रही है वह यह है कि अधिशेष के उत्पादन की शुरुआत के साथ जाति व्यवस्था की शुरुआत हुई, यानी कि कृषि की शुरुआत के साथ। लेकिन अधिशेष उत्पादन अपने आपमें जाति व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकता, जब तक कि ब्राह्मणवादी विचारधारा की मौजूदगी न हो। यह ब्राह्मणवादी विचारधारा वर्ग विभाजन को वर्णों की व्यवस्था के रूप में संस्थापित करने का विचारधारात्मक उपकरण थी। यही कारण है कि उत्तर-पूर्व में जाति व्यवस्था की शुरुआत अधिशेष उत्पादन की मंज़िल आने और वर्गों के अस्तित्व में आने के

काफी बाद में शुरू होती है, जब ब्राह्मणवादी विचारधारा इस वर्ग विभाजन को जातिगत स्वरूप देती है। इसके अतिरिक्त, मॉर्टन क्लास की वंश/जनजाति से जाति के संक्रमण का सिद्धान्त केवल उन जातियों के उद्भव की व्याख्या कर सकती है, जो कि उत्पादन में लगी हों। ऐसे में, स्वयं ब्राह्मण जाति के उद्गम की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इसके अलावा मॉर्टन क्लास का यह सोचना भी ग़लत है कि जाति व्यवस्था पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में लगभग एक साथ अस्तित्व में आयी। ऐतिहासिक प्रमाण अब स्पष्ट रूप में दिखलाते हैं कि जाति व्यवस्था दक्षिणी और पूर्वी भारत में बाद में फैली और उसने उत्तर और उत्तर पश्चिमी भारत की जाति व्यवस्था से काफी भिन्न स्वरूप अख्तियार किया।

इसके अलावा जाति के उद्भव का एक **द्रविड़ मूल का सिद्धान्त** भी है जिसके अनुसार द्रविडीय सभ्यता में कुछ ऐसे तत्व थे, जिन्होंने जाति व्यवस्था को जन्म दिया। इसमें से एक प्राचीन दक्षिण भारतीय संगम साहित्य में तिनाई की अवधारणा पर बल देता है। इसमें तिनाई एक क्षेत्र के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द है। पाँच तिनाइयों की बात की गयी है जिसमें कि अलग-अलग समुदाय रहते थे। इन तिनाइयों में मौजूद सामाजिक-आर्थिक स्थिति एकदम भिन्न प्रकार की थी। कहीं पर कृषि समाज अस्तित्व में आने लगा था, तो कहीं अभी भी चरवाहे समाज के तत्व मौजूद थे। जो तटीय क्षेत्र का तिनाई क्षेत्र था वहाँ मछली का शिकार करना अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार था। जब इनका संलयन शुरू हुआ तो उन्नत उत्पादन सम्बन्धों वाले तिनाई के लोग उन्नत जातियों का निर्माण करने लगे। लेकिन यह सिद्धान्त जाति व्यवस्था के मूल को सही तरीके से नहीं व्याख्यायित कर पाता है। इसका कारण यह है कि तिनाई पाँच अलग प्रकार के भौगोलिक-परिवेशीय क्षेत्रों की बात करता है, और इसमें मौजूद समुदाय एक वर्ग-विभाजित समाज का अंग नहीं थे। जाति व्यवस्था जिस समाज की चारित्रिक आभिलाक्षणिकता होती है, वह वास्तव में एक एकीकृत और निश्चित सम्पत्ति सम्बन्धों वाला समाज होता है।

एक दूसरा कारण जो कि द्रविडीय मूल के सिद्धान्त को जन्म देता है, वह है द्रविडीय सभ्यता में पवित्र समुदायों के अछूत होने का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार पवित्र व्यक्ति वास्तव में तमाम अशुद्धताओं का वाहक होता है, और उसके भीतर मौजूद ये खतरनाक अशुद्धताएँ संक्रामक होती हैं। लेकिन यहाँ शुद्ध और अशुद्ध का रिश्ता जाति व्यवस्था की तुलना में बिल्कुल विपरीत है। ऐतिहासिक प्रमाणों ने अब प्रदर्शित कर दिया है कि शुद्धता/प्रदूषण के सिद्धान्त बहुत से खानाबदोश और चरवाहे समाजों में पैदा हो सकते हैं, जिसमें **ब्रूस लिंकन** नामक समाजशास्त्री के अनुसार, अक्सर ही पुरोहित और योद्धा वर्ग पैदा होते हैं। जादुई विश्व दृष्टिकोण के इस काल में एक वर्ग कर्मकाण्डों के ज़रिये पशुधन

को बढ़ाने के लिए देवताओं को बलि चढ़ाकर अपनी भूमिका अदा करता है, तो दूसरा वर्ग अन्य कबीलों पर हमला करके उनके पशुधन पर कब्ज़ा करने की प्रक्रिया में नेतृत्व की भूमिका निभाता है। अन्य जो भी बचते हैं, वे सामान्य आबादी का निर्माण करते हैं। पहला वर्ग पुरोहित वर्ग का निर्माण करता है, और वह अक्सर शुद्धता/प्रदूषण के सिद्धान्तों का निर्माण करता है। लेकिन यह अपने आप में जाति व्यवस्था के उदय का कारण नहीं बन सकता है। इसलिए द्रविडीय मूल का सिद्धान्त भी एक परिकल्पना है, जिसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद नहीं हैं।

वर्ण व्यवस्था के उदय के बारे में **कोसाम्बी के सिद्धान्त** महत्वपूर्ण हैं। उनके सिद्धान्त में कई विचार बाद में अनुपयुक्त पाये गये। लेकिन उनकी पूरी पद्धति मौजूद प्रमाणों की एक सुसंगत व्याख्या और उसके आधार पर अज्ञात पहलुओं के विषय में काफी तर्कसंगत *सिम्युलेशन* करती है। कोसाम्बी के अनुसार, वैदिक आर्यों के आने के पहले आर्यों का एक समूह भारतीय उपमहाद्वीप में आकर बस चुका था। सम्भवतः इस समूह का हड़प्पा सभ्यता के बचे हुए तत्वों के साथ सम्मिलन हुआ था। वैदिक आर्यों के आने बाद इस समूह के लोगों का उनके साथ टकराव हुआ। ऋग्वेद में इन्हीं समूहों को दस्यु या दास कहा गया है। इन दस्युओं और दासों के कबीलों के कुछ शक्तिशाली सरदारों के बारे में कुछ सकारात्मक बातें भी कही गयी हैं। उनके लिए असुर शब्द का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि पहले देवता के रूप में असुर शब्द का इस्तेमाल होता था। क्योंकि इन्द्र को भी असुर कहा गया है, जो कि वैदिक आर्यों का प्रमुख इहलौकिक देवता था। पारलौकिक देवता के लिए देव शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। इन दास/दस्युओं के बारे में यह कहा गया है कि उनका वर्ण (रंग) सांवला या गाढ़े रंग का था, जो कि इस बात को दर्शाता है कि हड़प्पा सभ्यता के बचे हुए तत्वों के साथ उनका मेल हुआ था, और यह सम्भव है कि अन्य मूल निवासियों के साथ भी उनका मेल हुआ हो। दासों/दस्युओं और आर्यों के टकराव का ऋग्वेद में पर्याप्त जिक्र मिलता है। अन्ततः वैदिक आर्य इन दासों पर विजय प्राप्त करते हैं। 'असुर' और 'दास' शब्द का अर्थ दासों की पराजय के साथ बदल गया। चूँकि 'असुर' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से दासों के सरदारों के लिए किया जाता था, इसलिए बाद में आर्यों के सरदारों/देवताओं के लिए 'सुर' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। जब दासों/दस्युओं को पूर्णतः वैदिक आर्यों ने अधीन कर लिया तो 'दास' शब्द का आधुनिक अर्थ, यानी कि गुलाम, पैदा हुआ। ये अधीनस्थ किये गये दस्यु/दास ही शूद्र जाति में तब्दील हुए। डी.डी. कोसाम्बी के अनुसार, शूद्रों के अस्तित्व में आने के साथ और वैदिक सभ्यता के गंगा के मैदानों में पहुँचने के साथ नये उत्पादन सम्बन्ध पैदा हुए। कृषि के

विस्तार और लोहे के प्रयोग के साथ अधिशेष के पैदा होने की मंज़िल आयी। इस मंज़िल के आने के दौरान ही नये कबीले वैदिक आर्यों के समाज में सम्मिलित हो रहे थे। कोसाम्बी के अनुसार, सजातीय विवाह के सिद्धान्त पर आधारित जातियों का उदय हुआ। रोमिला थापर इसी को थोड़े भिन्न अर्थों में कहती हैं। उनके अनुसार, विजित कबीले निचली जातियों में तब्दील हुए, जबकि विजेता कबीले उच्च जातियों में।

कोसाम्बी के अनुसार प्रारम्भिक वैदिक काल के अन्त के करीब हमें ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 'पुरुषसूक्त' में जिस चार वर्णों की व्यवस्था का जिक्र मिलता है, वास्तव में वह वर्ग विभाजन को ही दिखला रही थी। उनके अनुसार, उत्पादन की आदिम मंज़िल में वर्ण व्यवस्था वर्ग विभाजन का ही लक्षण थी, और इस मंज़िल में हम जिसे वर्ण कह रहे हैं वह वास्तव में वर्ग ही है। कोसाम्बी की इस बात के लिए कई ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं। मिसाल के तौर पर, 'पुरुषसूक्त' में चार वर्णों की इस व्यवस्था का जो वर्णन दिया गया है उसमें अभी सजातीय विवाह, आनुवंशिक श्रम विभाजन की कोई बात नहीं है। यानी कि जिन मूल चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर हम आज जाति व्यवस्था की पहचान करते हैं, उनमें से एक भी अभी मौजूद नहीं थी। रामशरण शर्मा ने भी इस बात की पुष्टि की है।

कोसाम्बी ने दास श्रम के पैदा होने को भी वैदिक समाज के उत्तरार्द्ध में वर्ग विभाजन के पैदा होने का एक स्रोत माना है। निश्चित तौर पर, भारतीय उपमहाद्वीप में दास श्रम उस पैमाने पर उत्पादक गतिविधियों में कभी इस्तेमाल नहीं हुआ, जिस पैमाने पर वह प्राचीन यूनान या रोमन सभ्यता में इस्तेमाल हुआ था। लेकिन कोसाम्बी इस सन्दर्भ यह तर्क देते हैं, जो कि सही प्रतीत होता है, कि एक आदिम कबीलाई या खानाबदोश चरवाहे समाज में दास श्रम के पैदा होने का अपनेआप में महत्व है, और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उसका उत्पादक गतिविधि में कितना इस्तेमाल होता है। मूल बात यह है कि किसी भी पैमाने पर दास श्रम का उपयोग सामुदायिक सम्बन्धों के विघटन का एक लक्षण है। ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में और मुख्य रूप से उत्तर-वैदिक काल में शूद्रों के वर्ण का पैदा होना, उनका दासों के रूप में प्रयोग होना, ब्राह्मणों और क्षत्रियों का मिलकर एक हद तक वैश्यों और पूर्ण रूप में शूद्रों का दमन और शोषण वर्ग समाज के जन्म की निशानी थी। लेकिन इस बात के लिए भी हमें पर्याप्त तर्क रखने होंगे, कि उत्पादन की इस आदिम मंज़िल में वर्ण और वर्ग के बीच में मुख्य और मूल रूप में एक अतिच्छादन (ओवरलैपिंग) मौजूद था।

इस पहलू को प्राचीन भारत के उत्कृष्ट इतिहासकार **रामशरण शर्मा** ने स्पष्ट किया है। शर्मा स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वैदिक समाज में एक श्रेणीकरण

मौजूद था, लेकिन अभी इसे वर्ग का नाम नहीं दे सकते हैं। दास श्रम की उपस्थिति भी केवल स्त्री दास श्रम के रूप में थी, जो कि न केवल घरेलू श्रम में लगायी जाती थीं, बल्कि कई बार उनसे विजेता कबीले में स्त्रियों की कम संख्या की पूर्ति भी जाती थी; यानी कि वे विजेता जनजाति/जाति में सम्मिलित हो जाती थीं। लेकिन अभी न तो इतना अधिशेष मौजूद था कि ये श्रेणियाँ वर्ग में तब्दील हो सकें, और न ही इन श्रेणियों में अभी वर्ण या जाति के गुण आये थे, जैसे कि सजातीय विवाह, आनुवंशिक पेशा (श्रम विभाजन) और रूढ़ पदानुक्रम। दास श्रम के रूप में शूद्र थे, जो कि अधीनस्थ बनाये गये दस्यु/दास ही थे। उच्च वर्णों से पैदा होने वाले उनके बच्चे बिना किसी भेदभाव के वैदिक समाज में सम्मिलित हो जाते थे। ऋग्वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में जो चार वर्णों का सामाजिक श्रेणीकरण पैदा हुआ था, वह अभी वर्ण/जाति व्यवस्था नहीं था, बल्कि समाज के भ्रूण वर्ग विभाजन को दिखला रहा था। रामशरण शर्मा ने इसे 'छोटे पैमाने का मुद्राविहीन किसान समाज'³ कहा था, जिसमें वितरण में असमानता की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन अभी जनजातीय समाज (खानाबदोश चरवाहे समाज) के शक्तिशाली तत्व मौजूद थे। 1000 से 700 ईसा पूर्व के करीब लोहे के प्रयोग के साथ गंगा के मैदानों में जंगल का सफाया हुआ, लोहे के हल का प्रयोग शुरू हुआ, उत्पादकता बढ़ी और पहली बार इतना अधिशेष पैदा होना शुरू हुआ, जिससे कि वर्ग और राज्य का निर्माण सम्भव हो सके। एक अन्य इतिहासकार **बी.एन.एस. यादव** ने रामशरण शर्मा की व्याख्या के पक्ष में कई नये प्रमाण रखे। उन्होंने दिखलाया कि 700 ईसा पूर्व से लेकर पहली सदी ईसवी के दौर तक वर्ग समाज के सुदृढीकरण की यह प्रक्रिया जारी रही। इसी दौर में, नयी जनजातियाँ वर्ण आधारित समाज में सम्मिलित हुईं। और इनसे नयी जातियों का उद्भव हुआ। इस दौर में,⁴ एक परिघटना यह भी सामने आयी कि शूद्रों पर ब्राह्मणों और क्षत्रियों का नियन्त्रण एक हद तक ढीला पड़ा और वे निर्भर कृषक आबादी में तब्दील होने लगे, जिनमें पहले वैश्यों की बहुतायत थी। जो वैश्य अभी भी खेती में ही लगे रहे, उनके कर्मकाण्डीय स्तर में भी गिरावट आयी और उनमें से कई शूद्रों में तब्दील होने लगे। जो बचे वे व्यापार को पेशे के तौर पर अपनाने लगे। इस प्रकार वैश्यों की आबादी में कमी आयी और उन्होंने व्यापार को अपना प्रमुख पेशा बना लिया।

वर्ण/जाति व्यवस्था में यह जो परिवर्तन आ रहा था, इसका मूल कारण क्या था? इसका मूल कारण था एक नयी उत्पादन व्यवस्था और नये उत्पादन सम्बन्धों का पैदा होना। पहली सदी ईसवी से हमें भूमि दान के प्रमाण मिलने लगते हैं। ये भूमि दान कई बार ब्राह्मणों को दिये जाते थे। लेकिन सिर्फ ब्राह्मणों को नहीं दिये जाते थे, बल्कि इसके प्राप्तकर्ता क्षत्रिय और कुछ मामलों

में वैश्य भी हो सकते थे। क्षत्रिय और ब्राह्मणों का गठजोड़ मुख्य रूप से राज्यसत्ता में काबिज था। मौर्य काल की राज्यसत्ता में इस तत्व को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ब्राह्मणों का कार्य मुख्य रूप से अभी तक पुरोहितों का ही था, लेकिन सामन्तवाद के भ्रूण रूप में जन्म लेने के साथ और ब्राह्मणों को भूमि दान मिलने के साथ, उनके चरित्र में परिवर्तन आया। वे भूस्वामियों के रूप में भी उभरे। क्षत्रियों के वर्ण का चरित्र पहले से ही योद्धा और भूस्वामी का था। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का गठजोड़ ही अभी भी शासक वर्ग की भूमिका निभा रहा था। लेकिन चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक, जब तक कि सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध विकसित होते रहे, चारों वर्णों की भूमिकाओं में बुनियादी परिवर्तन आये। इन पर हम आगे और चर्चा करेंगे।

सुवीरा जायसवाल, रामशरण शर्मा और बी.एन.एस. यादव द्वारा सामन्तवादी उत्पादन पद्धति के विवरण से सहमत रखती हैं। उनके मुताबिक **हरबंस मुखिया** की यह आपत्ति, कि उस दौर की सामाजिक संरचना को सामन्तवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें भूदास व्यवस्था प्रमुख तौर पर मौजूद नहीं थी, व्यर्थ है। भारतीय सामन्तवाद में भूदास के रूप में किसी अलग वर्ग की ज़रूरत नहीं थी। शूद्र और अछूत जातियों की अधीनस्थ स्थिति इस कमी को पूरा करती थी। कई बार शूद्र बटाईदार बन जाते थे। वास्तव में, भारत में भूमिहीन कृषि मजदूरों और निचली जातियों के बीच जो आंशिक अतिच्छादन आज तक मौजूद है, उसके बीज भारतीय सामन्तवाद के युग में ही पड़े थे। जायसवाल के अनुसार जाति व्यवस्था के वर्ग कार्य को नज़रअन्दाज़ करना इसके राजनीतिक और आर्थिक पहलू को नज़रअन्दाज़ करना होगा। और अगर जाति व्यवस्था के इन बुनियादी आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं को नज़रअन्दाज़ किया जाता है, तो उसमें जो बचेगा वह मात्र सजातीय विवाह और आनुवंशिक श्रम विभाजन होगा। ऐसे में, जाति व्यवस्था भारतीय जीवन, इतिहास और समाज का एक अनैतिहासिक, अनादि-अनन्त और इसलिए नैसर्गिक हिस्सा बन जायेगी। हम जानते हैं कि दलित मुक्ति की बात करने वाले कई विचारक और संगठन लगभग ऐसी ही बात करते हैं, और अनजाने में जाति व्यवस्था का नैसर्गिकीकरण कर देते हैं। यह जाति व्यवस्था के आदर्शिकरण और एक प्रकार से वैधीकरण की ओर ले जाता है। सुवीरा जायसवाल के अनुसार हमें उपनिवेशवाद से पहले के भारतीय समाज के सन्दर्भ में ऐसे ढेरों प्रमाण मिलेंगे, जो दिखलाते हैं कि जहाँ कहीं भी जाति व्यवस्था का वर्ग विभाजन के साथ एक **संगति (करेस्पॉण्डेंस)** का रिश्ता था, वहाँ-वहाँ जाति का पदानुक्रम सुदृढ़ीकृत और रूढ़ हुआ, जबकि जहाँ कहीं भी जातियों के बीच मौजूद कर्मकाण्डीय पदानुक्रम वर्ग विभाजन की गतिकी के विपरीत था, वहाँ-वहाँ जाति व्यवस्था के भीतर संलयन और विखण्डन की प्रक्रिया शुरू हो गयी, जिसने क्रमिक प्रक्रिया में जाति पदानुक्रम

में अहम बदलाव ला दिये।

सुवीरा जायसवाल ने कोसाम्बी, रामशरण शर्मा और इरफ़ान हबीब की इस विषय में आलोचना की है कि उन्होंने वर्ण व्यवस्था के भीतर जातियों के पैदा होने के लिए एक बाह्य कारक, यानी कि नयी जनजातियों के वैदिक समाज में सम्मिलित होने, को ज़िम्मेदार ठहराया है। जहाँ एक ओर यह बात सच है कि वैदिक सभ्यता के पूर्व की ओर विस्तार और नयी जनजातियों के इसमें शामिल होने ने जातियों को जन्म दिया, वहीं यह भी सत्य है कि अगर वर्ण व्यवस्था वाले समाज में पहले से जातिगत विभेद (यानी कि आनुवंशिक श्रम विभाजन और सजातीय विवाह के तत्वों पर आधारित वर्ण विभाजन) के तत्व मौजूद नहीं होते तो जनजातियों के शामिल होने से नयी जातियाँ पैदा नहीं होतीं। सुवीरा जायसवाल के अनुसार यह मानना कि पूर्व वैदिक जनजातियाँ सजातीय विवाह पर अमल करती थीं, जबकि वैदिक आर्यों में यह संस्कृति नहीं थी, ग़लत है। उन्होंने इसके विपरीत प्रमाण उपस्थित किये हैं कि वैदिक समाज में पितृसत्ता के पैदा होने के साथ ही वंश-आधारित सगोत्र विवाह की परम्परा समाप्त होने लगी थी, और स्त्रियों के अधीनस्थ स्थिति ग्रहण करने के साथ सजातीय विवाह की परम्परा के बीज पड़ चुके थे। दूसरी ओर, ऐसे पूर्व वैदिक कबीलों के प्रमाण भी मिल सकते हैं, जिनमें अभी सजातीय विवाह की परम्परा पैदा नहीं हुई थी। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जनजातियों के वैदिक समाज में शामिल होने के साथ सजातीय विवाह पर आधारित जातियों का जन्म हुआ। दूसरी तरफ, वैदिक समाज में ही शूद्रों की जाति के जन्म के साथ शारीरिक श्रम के विशिष्ट रूपों को हीन बनाकर पेश किया जाना शुरू हो चुका था। ऐसे में, जब नये किस्म के उत्पादक श्रमों में विशेषज्ञता रखने वाले कबीले वैदिक समाज में शामिल हुए, तो उन्हें अलग-अलग जातियों के रूप में शामिल किया गया, और साथ ही आनुवंशिक श्रम विभाजन भी पैदा होने लगा। यही कारण था कि पूरे के पूरे कबीले एक जाति में तब्दील नहीं हुए। बल्कि हुआ यह कि कबीलों के उच्च पुरोहित वर्ग ब्राह्मणों के साथ मिल गये और अन्य वर्ग वैदिक समाज के अन्य वर्णों में सम्मिलित हुए। कई कबीलों के तमाम लोग क्षत्रियों के वर्ण में भी सम्मिलित हुए। संक्षेप में कहें तो सजातीय विवाह और आनुवंशिक श्रम विभाजन पर आधारित जातियों के जन्म की ज़मीन पहले से ही वैदिक समाज में मौजूद थी, और इसीलिए नयी जनजातियों का वैदिक समाज में शामिल होना जातियों के जन्म का एक कारक बन सका। इस पूरी प्रक्रिया में वैदिक समाज में वर्ग विभाजन की आन्तरिक प्रक्रिया प्रमुख तौर पर ज़िम्मेदार थी। बाह्य जनजातियों का वैदिक वर्ण व्यवस्था के सम्मिलन तो मध्यकाल के उत्तरार्द्ध तक जारी रहा था। यह जातियों के पैदा होने का कारण अपनेआप में नहीं बन सकता था। इस

विषय में सुवीरा जायसवाल की अवस्थिति ज़्यादा सन्तुलित प्रतीत होती है।

वैदिक काल की समाप्ति और प्राचीन गणराज्यों की शुरुआत के समय तक के इतिहास को देखें तो एक बात स्पष्ट तौर पर उभरकर सामने आ जाती है। वर्ण व्यवस्था का उद्भव और जातियों का पैदा होना एक व्यापक और जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। अभी भी उस दौर के इतिहास के कई पहलू अछूते हैं और उनके बारे में पर्याप्त प्रमाण भी मौजूद नहीं हैं। लेकिन यह तय है कि वर्ण व्यवस्था अपने उद्गम से ही सतत् गतिशील थी। जातियों के पैदा होने के बाद जाति व्यवस्था का जो स्वरूप सामने आया वह भी गतिशील था। इनकी गति के पीछे जो प्राथमिक प्रेरक तत्व था वह उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों में आने वाला बदलाव था। वर्ग समाज के अस्तित्व में आने के समय पर वर्ण-वर्ग अतिच्छादन साफ तौर पर दिखलायी देता है। लेकिन यह अतिच्छादन बहुत लम्बे समय तक नहीं बना रह सकता है, और इसका अन्ततः एक संगति (करेस्पॉण्डेंस) के सम्बन्ध में तब्दील होना तय था।

इसका कारण यह है कि वर्ण व्यवस्था अपने उद्गम के समय पर मौजूद वर्ग सम्बन्धों का विचारधारात्मक वैधीकरण थी, लेकिन यह एक ऐसा विचारधारात्मक वैधीकरण था जो अपनेआप में विशिष्ट था। दुनिया के सभी समाजों में वर्ग शासन के अस्तित्व में आने के बाद शासक वर्गों के शासन को वैध ठहराने वाली विचारधाराएँ जन्म लेती हैं। लेकिन भारत में इस विचारधारा ने न सिर्फ धार्मिक रूप लिया, बल्कि वह कर्मकाण्डीय रूप से अस्थिभूत (ऑसिफाई) हो गयी। ज़ाहिरा तौर पर, अगर कोई भी शासक वर्ग अपने शासन के तहत मौजूद वर्ग विभाजन के ढाँचे को अपनी विचारधारा के ज़रिये कर्मकाण्डीय तौर पर अस्थिभूत करेगा, तो यह विचारधारात्मक वैधीकरण कभी भी समाज में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन पद्धति के विकास के साथ मेल बिठाते हुए नहीं चल सकता है। ऐसे में, वर्ग विभाजन के पुराने विचारधारात्मक वैधीकरण, या विचारधारात्मक रूप से अस्थिभूत रूप और नये वर्ग विभाजन के बीच एक अन्तर पैदा होगा। निश्चित तौर पर, इस अन्तर का यह अर्थ नहीं है कि समाज में मौजूद वर्ग विभाजन और उसके विचारधारात्मक कर्मकाण्डीय वैधीकरण के बीच कोई भी सम्बन्ध या संगति नहीं रह जायेगी। इसका यह अर्थ है कि जब भी वर्ग विभाजन आमूल रूप से बदलेगा, तो पुराना कर्मकाण्डीय ढाँचा चरमराने लगेगा और उसमें कुछ समायोजन (एडजस्टमेण्ट) करने पड़ेंगे।

जाति व्यवस्था और जाति विचारधारा के पूरे इतिहास में ऐसे परिवर्तन भरे पड़े हैं। ये परिवर्तन दिक् और काल दोनों ही पैमाने पर मौजूद रहे हैं। यानी कि

एक ही युग में अलग-अलग क्षेत्रों में जातिगत पदानुक्रम बिल्कुल भिन्न प्रकार के रहे हैं। मिसाल के तौर पर, जब वैदिक सभ्यता दक्षिण भारत और पूर्वी भारत के समाज तक पहुँची, तो उस समय के दौर में कृषि आधारित अर्थव्यवस्था काफी विकसित हो चुकी थी, और वर्ण व्यवस्था के भीतर भी कृषक जातियों की स्थिति में तब्दीली आ चुकी थी। नतीजतन, इन क्षेत्रों में हमें क्षत्रिय और वैश्य वर्ण नहीं मिलते। इनके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। लेकिन अभी इतना बताना पर्याप्त है कि जाति व्यवस्था के भीतर आपको दिक् और काल, दोनों ही पैमाने पर आमूलगामी परिवर्तन और वैविध्य मिलेंगे। बस एक चीज़ है जो वर्ण/जाति व्यवस्था में बरकरार रहती है। वह है किसी भी क्षेत्र में वर्ग संरचना के आधार पर जो कर्मकाण्डीय जाति विभाजन होता है, उसका आधार शुद्धता/प्रदूषण के सिद्धान्त पर आधारित ब्राह्मणवादी विचारधारा होती है। लेकिन इसके नतीजे के तौर पर जो जातिगत पदानुक्रम पैदा होता है, वह हर क्षेत्र में मौजूद उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादन व्यवस्था के आधार पर अलग-अलग होते हैं। अब अगर हम पूरी वर्ण/जाति व्यवस्था और अलग-अलग वर्णों/जातियों की स्थिति में उत्पादन सम्बन्धों में आये बदलाव के साथ आने वाले परिवर्तनों पर निगाह डालें तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

उत्पादन व्यवस्था और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन के साथ अलग-अलग वर्णों/जातियों की स्थिति में परिवर्तन

सुवीरा जायसवाल ने ब्राह्मण वर्ण/जाति की जाति व्यवस्था में स्थिति में आने वाले परिवर्तनों की ओर ध्यान खींचा है। इन परिवर्तनों के पीछे भी मुख्य कारणों के तौर पर उत्पादन सम्बन्धों और वर्ग संरचना में आने वाले बदलावों को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। **रोमिला थापर** ने दिखलाया है कि एक चरवाहे खानाबदोश समाज में ब्राह्मणों की आमदनी का मुख्य स्रोत उपहारों के रूप में था। ब्राह्मणों के लिए तत्कालीन धार्मिक संहिताओं में भी आमदनी के इसी स्रोत को वांछित ठहराया गया था। लेकिन कृषि में संक्रमण के साथ वस्तुओं के उपहारों की जगह भूमि दान ने ले ली। इस भूमि दान की प्रथा ने ब्राह्मणों को पुरोहित के साथ-साथ भूस्वामी में भी तब्दील कर दिया। इसने ब्राह्मणों की स्थिति में अहम बदलाव लाया। जब हम वैदिक युग और उसके बाद जनपदों के इतिहास और मौर्य काल से आगे बढ़ते हैं, तो हम देखते हैं कि ब्राह्मण अब शासकों की भूमिका में भी आ रहे हैं। कई ऐसे राज्य पैदा हुए जिनके शासक ब्राह्मण थे। अब ब्राह्मणों द्वारा अपने से नीचे आने वाले क्षत्रियों के कार्य को अपनाया जाना वर्जित या हीन नहीं माना जाता था। बल्कि उन ब्राह्मणों की स्थिति जाति पदानुक्रम में और ऊपर हो गयी। ताज्जुब की बात तो यह है कि शुरुआती मध्यकाल आते-आते उन ब्राह्मणों को हीन माना जाने लगा जो कि

दान लेते थे, मन्दिर में पुरोहित का काम करते थे, और उन ब्राह्मणों की स्थिति ज़्यादा ऊपर हो गयी जो कि शासक-प्रशासक या भूस्वामी बन गये थे। यह परिवर्तन क्यों हुआ था? स्पष्ट है कि पूर्व सामन्ती सामाजिक संरचना से सामन्ती सामाजिक संरचना में प्रवेश ने ब्राह्मणों की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन ला दिये थे। इसके अलावा, ब्राह्मणों की जाति के भीतर भी बड़े पैमाने पर जातियाँ पैदा हुई थी। सुवीरा जायसवाल ने ब्रह्म-क्षत्रियों की जाति के पैदा होने का जिक्र किया है, जिसके तीन सम्भावित स्रोत हो सकते हैं—पहला, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध; दूसरा, ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के कार्य, यानी शासन-प्रशासन को अपनाया जाना और तीसरा शुरु से पुरु के वंश के रूप में एक ऐसी जाति के मूल का मौजूद होना।

जिस प्रकार से ब्राह्मणों की जाति पदानुक्रम और जाति विचारधारा द्वारा निर्धारित उनके कार्यों में बदलाव आया, वैसे ही बदलावों को हम क्षत्रियों के बीच भी देख सकते हैं। क्षत्रियों के बीच नयी जातियाँ पैदा हुईं, जिनके वैविध्यपूर्ण स्रोत थे। मिसाल के तौर पर, राजपूत जाति के निर्माण के विषय में अब पर्याप्त ऐतिहासिक स्रोत मौजूद हैं, जो यह दिखलाते हैं कि यह जाति शुरु से क्षत्रिय वर्ण की स्थिति में नहीं थी। इस जाति का निर्माण भारतीयकृत विदेशी तत्वों, जिन्होंने अन्य जनजातियों पर विजय पायी और अपना शासन स्थापित किया, अन्य वर्णों से आने वाले सदस्यों और कुछ देशज कबीलों के संलयन से हुआ था। यह एक योद्धा भूस्वामी जाति थी जिसका निर्माण अलग-अलग स्रोतों से आने वाले तत्वों के मिश्रण से हुआ था। इस जाति ने क्षत्रियों के साथ और साथ ही अन्य उच्च जातियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जिसने इनके कर्मकाण्डीय स्थिति का स्तरोन्नतयन किया। इस पूरी प्रक्रिया में इस समुदाय के लोगों ने राजपुत्र नाम अपनाया जो आगे चलकर राजपूत बना।

दक्षिण भारत में इस प्रकार की कोई योद्धा जनजाति मौजूद नहीं थी। वहाँ पर योद्धा जनजाति के कार्यों को भी उभरती हुई भूस्वामी किसान जातियों ने पूरा किया। नतीजतन, वहाँ कोई क्षत्रिय वर्ण पैदा ही नहीं हुआ। जब दक्षिण भारत में कृषि आधारित कबीलों में राज्य निर्माण की प्रक्रिया एक मुकम्मिल मुकाम तक पहुँची तो वहाँ बड़े क्षेत्रीय राज्य पैदा हुए। कृषक समुदायों के बीच से ही इन राज्यों के राजा पैदा हुए। इसके बाद ब्राह्मणों का एक प्रकार से वहाँ उत्तरी भारत से आयात हुआ। ये ब्राह्मण तत्व उन कबीलों में मौजूद पुरोहित तत्वों से भी संलयित हुए और उन्होंने दक्षिण भारत की ब्राह्मण जातियों का निर्माण किया। इन ब्राह्मणों ने शासक कृषक जातियों को शूद्र के रूप में वर्ण व्यवस्था में शामिल किया। लेकिन यहाँ शूद्रों की स्थिति वह नहीं थी, जो कि उत्तर भारत और उत्तर-पश्चिमी भारत में थी। इन्हें उस समय शूद्रों के वर्ण में जातियों के रूप में

इसलिए शामिल किया गया क्योंकि जाति व्यवस्था के उदय के केन्द्रीय क्षेत्रों में अब तक शूद्र प्रमुख कृषक जाति बन चुके थे। दक्षिण भारत में शूद्रों की स्थिति कहीं बेहतर थी, क्योंकि यहाँ वे महज कृषक जाति नहीं थे, बल्कि शासक वर्ग भी थे। इसलिए दक्षिण भारत की एक ऐसी ही जाति वेल्लाल को ब्राह्मणों का संरक्षक बताया गया है। ब्राह्मणों के पास कर्मकाण्डीय “शक्ति” थी, इसलिए उनके कार्य और कोई जाति नहीं कर सकती थी। लेकिन क्षत्रियों की पारम्परिक शक्ति का चरित्र पारलौकिक नहीं था, बल्कि इहलौकिक था, इसलिए परम्परागत तौर पर उनके लिए निर्धारित कार्य कोई और जाति भी कर सकती थी। दक्षिण भारत में यह कार्य वेल्लाल जाति ने किया, जिसे दक्षिण भारतीय जाति पदानुक्रम में काफी ऊँचा स्थान हासिल था। यहाँ पर निर्भर, शोषित और दासवत स्थिति में जो लोग थे उन्हें असत शूद्र कहा गया। ब्राह्मणों के लिए ऐसी प्रस्थापना देना आसान था क्योंकि काफी पहले ही हीन और अहीन शूद्र के बीच में ब्राह्मण संहिताओं में फर्क किया गया था। कुछ शूद्र ऐसे थे जिनके प्रदूषणों को दूर करने का कोई रास्ता नहीं था, जबकि कुछ शूद्र ऐसे थे जिनके प्रदूषण संक्रामक नहीं थे, या उनके प्रदूषणों को दूर किया जा सकता था। इसी के आधार पर वेल्लालों को **सत शूद्र** कहा गया, जिनकी स्थिति जाति व्यवस्था में काफी ऊपर थी, जबकि आदि द्रविड़ जातियों को **असत शूद्र** कहा गया, जिनकी स्थिति भूदासों और बेहद दरिद्र दस्तकार जातियों जैसी हो गयी, जैसा कि उत्तर और उत्तर पश्चिमी भारत में वैदिक काल में शूद्रों की थी।

पूर्वी भारत में भी ऐसी किसान जातियाँ पैदा हुईं। जो कि शासक वर्ग की स्थिति में पहुँच गयीं। वहाँ पर भी कोई क्षत्रिय या वैश्य वर्ण अलग से पैदा नहीं हो सका। इसलिए दक्षिण भारत और पूर्वी भारत में हमें दो ही वर्ण मिलते हैं—ब्राह्मण और शूद्र इन्हीं के भीतर आने वाली सदियों में कई जातियों का जन्म हुआ—कभी नयी जनजातियों के शामिल होने से, तो कभी पहले से मौजूद जातियों के बीच विघटन और संलयन की प्रक्रिया से। वैद्यों और कायस्थों की जाति का जन्म इसी प्रकार से बंगाल में हुआ।

रामशरण शर्मा ने दिखलाया है कि कृषि का पेशा, जो कि मूल तौर पर वैश्यों का पेशा था, वह शूद्रों का प्रमुख पेशा कैसे बन गया। उनके अनुसार भूमि अनुदान की सामन्ती प्रथा के शुरुआत के साथ नये क्षेत्रों में ब्राह्मणों के जाने के कारण नयी जनजातियाँ वर्ण व्यवस्था में शामिल हुईं। ये नयी जनजातियाँ शूद्रों के वर्ण में सम्मिलित हुईं। और खेती का काम इनका प्रमुख काम बना। लेकिन सुवीरा जायसवाल का कहना है कि सामन्ती उत्पादन पद्धति के जन्म के साथ खेती से जुड़ा शारीरिक श्रम हीन होता गया। इसके साथ ही, नयी कृषक जातियों को वैश्य जाति के तौर पर नहीं बल्कि शूद्रों के रूप में वैदिक समाज में

सम्मिलित किया गया। इसके अलावा, जो वैश्य खेती के पेशे में ही रह गये क्रमिक प्रक्रिया में वे भी शूद्र बन गये। जो वैश्य खेती से जमा अधिशेष के आधार पर व्यापार में चले गये, उनकी स्थिति वैश्य के रूप में बरकरार रही। इस प्रकार सामन्ती उत्पादन पद्धति के जन्म और उस दौर में नयी जनजातियों के वैदिक समाज में सम्मिलन के साथ वैश्यों और शूद्रों के मूल रूप से निर्धारित कार्यों में फर्क आ गया। इससे पहले, वैश्य मुख्य रूप से कृषि के पेशे में थे और शूद्रों का एक हिस्सा भी दरिद्र निर्भर किसानों के तौर पर खेती में ही लगा हुआ था। **सुवीरा जायसवाल** और **रामशरण शर्मा**, दोनों ने ही दिखाया है कि एक कबीलाई कुल/वंश के मुखिया के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द 'गृहपति' अपने अर्थ बदलता गया और बुद्ध के युग तक इसका अर्थ कृषक परिवार के मुखिया में रूपान्तरित हो गया। इस शब्द के विकास में ही हमें वैश्यों और शूद्रों के बीच के श्रम विभाजन (खेती और व्यापार) के विकास का भी पूरा ब्यौरा मिलता है।

सुवीरा जायसवाल ने यह भी दिखलाया है कि किस प्रकार महाराष्ट्र और गुजरात में चारों वर्ण अस्तित्व में आये और नयी जनजातियाँ चारों ही वर्णों में सम्मिलित हुईं। इसका कारण यह था कि ब्राह्मणवादी समाज, संस्कृति और विचारधारा का प्रसार वहाँ सामन्तवाद के उदय से पहले ही शुरू हो चुका था, यानी कि 500 ईसा पूर्व से लेकर 200 ईसवी तक। अलग-अलग वर्णों/जातियों की स्थिति में जो परिवर्तन आये उन्होंने पूरे जाति पदानुक्रम में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं कि उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों में होने वाले बदलाव बार-बार वर्ण/जाति व्यवस्था पर आन्तरिक परिवर्तन के लिए दबाव पैदा करते थे। **जाति और वर्ग के बीच एक अन्तर मौजूद रहता था, लेकिन कोई दृष्टिहीन ही यह दावा कर सकता है कि उनके बीच स्पष्ट संगति (करेस्पॉण्डेंस) मौजूद नहीं है। यह अन्तर किसी युग में ज़्यादा तो किसी युग में कम दिखलायी पड़ता है।** उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के विकास के द्वन्द्व में ही एक विशिष्ट मौके पर अस्पृश्यता पैदा हुई। इस प्रक्रिया को समझना भी आवश्यक है।

अस्पृश्यता का विकास: सामन्ती शोषण के सम्बन्धों के विकास का चरम

दक्षिण व पूर्व में असत शूद्रों के पैदा होने और उत्तर व उत्तर-पश्चिम में शूद्रों के मुख्य रूप से किसान जाति बन जाने के साथ ही, समाज के सबसे अधीन, सबसे दमित और शोषित तबके रूप में अछूत (अस्पृश्य) आबादी, जिसे आगे दलित आबादी कहा गया, पैदा हुई। हमने पहले भी जिक्र किया है कि शूद्रों में काफी

पहले ही हीन व अहीन शूद्रों के बीच धार्मिक संहिताओं में फर्क किया गया था। मिसाल के तौर पर, चाण्डाल जाति वर्ण व्यवस्था में शूद्रों में ही गिनी जाती थी, लेकिन उन्हें हीन शूद्रों में रखा गया था। एक ओर तो शूद्र जातियों में जो निम्नतम संस्तर पर थे, उनमें से अस्पृश्यता का जन्म हुआ और दूसरी तरफ़, सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के विकसित होने की प्रक्रिया में जब शारीरिक श्रम के कुछ रूपों को बेहद निकृष्ट कोटि का घोषित कर दिया गया तो उसके साथ ही शुद्धता/प्रदूषण की जातिगत विचारधारा में भी अस्पृश्यता का तत्व जोड़ दिया गया। शुद्धता/प्रदूषण का विचार भी ब्राह्मणवादी विचारधारा में एक परिवर्तनशील चर राशि के रूप में मौजूद रहा है। यही कारण है कि कई जातियों को बाद में अस्पृश्य घोषित किया गया। मिसाल के तौर पर, वैदिक स्रोतों में कहीं भी चमड़े से जुड़े कार्यों और उन्हें अंजाम देने वाली चर्मकार जाति को हीन या निकृष्ट बनाकर नहीं पेश किया गया है। उल्टे वैदिक कर्मकाण्डों में इस्तेमाल होने वाली तमाम सामग्रियों को चमड़े के झोले में ही ले जाने का प्रावधान किया गया था। यह 8वीं-9वीं सदी में हुआ कि चर्मकारों को अस्पृश्य घोषित किया गया।

अस्पृश्यता के मूल के बारे में **भीमराव अम्बेडकर** के विचार यह थे कि ब्राह्मणों ने सोचे-समझे तौर पर कुछ जातियों को अस्पृश्य बना दिया, विशेष तौर पर वे जो कि प्रतिरोध कर रही थीं, और अभी भी गौमांस का भक्षण करती थीं, और साथ ही जिन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया था। लेकिन **विवेकानन्द झा** ने प्रमाणों के साथ इस दृष्टिकोण को खण्डित किया है। झा ने प्रदर्शित किया है कि अस्पृश्यता के पैदा होने का गौमांस भक्षण और बौद्ध धर्म अपनाने के साथ कोई रिश्ता नहीं था। इसका गहरा रिश्ता सामन्ती उत्पादन पद्धति के विकास के साथ था जिसने दमित और शोषित जातियों के शोषण और उत्पीड़न को ढाँचागत बनाने के लिए अस्पृश्यता का अतिरेकी रूप प्रदान किया। कई अन्य अध्येताओं ने भी अस्पृश्यता के मूल पर काम किया है, जैसे कि **जी.एल.हार्ट** जो कि अस्पृश्यता को प्राचीन तमिल समाज की पैदावार बताते हैं; **एन.के.दत्त** जो कि द्रविड़ समुदायों द्वारा गैर-द्रविड़ समुदायों के प्रति दृष्टिकोण को अस्पृश्यता के मूल में देखते हैं; जर्मन विद्वान **फ्यूरर हाइमेनडॉर्फ** शहरी सभ्यता के विकास को अस्पृश्यता के कारण के तौर पर देखते हैं। लेकिन इस विषय पर विवेकानन्द झा के कार्य को ही सबसे उत्कृष्ट माना जाता है। उन्होंने दिखलाया कि प्रदूषण और शुद्धता के विचारों ने कुछ कार्यों को इतनी निकृष्ट कोटि का नहीं बनाया उन्हें करने वालों को अस्पृश्य घोषित किया गया; बल्कि कुछ वर्गों का शोषण इतना बर्बर और नग्न बन गया कि उनके काम के साथ प्रदूषण की अवधारणा को जोड़ दिया गया, और उन्हें करने वालों को अस्पृश्य बना दिया गया। ब्राह्मण विचारधारा ने हमेशा की तरह वर्ग विभाजन और शोषण को कर्मकाण्डीय स्वरूप प्रदान किया। हमें दुहराने की ज़रूरत नहीं है कि यहाँ पर हम

वर्ग और अतिच्छादन की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि पूरी सामाजिक-आर्थिक संरचना में निहित शोषण और उत्पीड़न के सम्बन्धों के धार्मिक कर्मकाण्डीय वैधीकरण और अशमीभूतीकरण की बात कर रहे हैं। इस पूरे ढाँचे में, जैसा कि हम बता चुके हैं, जाति और वर्ग के बीच एक संगति (करेस्पॉण्डेंस) का रिश्ता मौजूद होता है।

रामशरण शर्मा ने स्पष्ट रूप से दिखलाया है कि खान-पान, छुआछूत सम्बन्धी और साथ ही विवाह के रिश्ते सम्बन्धी जातिगत बन्धनों और रूढ़ियों का भी एक उद्भव और विकास हुआ है। सुवीरा जायसवाल और **डी.डी. कोसाम्बी** ने भी प्रदर्शित किया है कि शुद्धता/प्रदूषण के विचारों के विकास का एक इतिहास रहा है। इन विचारों को गढ़ने और बनाने का काम शासक वर्ग के अंग और विचारकों के तौर पर ब्राह्मणों ने किया। इन विचारों का कार्य था शोषण के प्रभावी सम्बन्धों को कर्मकाण्डीय रूप से अशमीभूत कर स्थायित्व प्रदान करना। जब भी वर्ग समीकरणों में आने वाले बदलावों का पुराने कर्मकाण्डीय ढाँचों में दम घुटने लगता था तो इन ढाँचों में आवश्यक परिवर्तन किये जाते थे। इस पूरी प्रक्रिया में मध्यकाल आते-आते ब्राह्मणों के बीच भी ऐसे विभाजन पैदा हो गये कि कुछ ब्राह्मण जातियाँ दरिद्रता की स्थिति में पहुँच गयीं। विशेष तौर पर दान-दक्षिणा पर जीने वाले ब्राह्मणों की भौतिक और कर्मकाण्डीय स्थिति दोनों ही नीचे चली गयी। **डेक्लान क्विगली** ने अपनी पुस्तक *दि इण्टरप्रेटेशन ऑफ कास्ट* में अस्पृश्य ब्राह्मणों के मामले का जिक्र किया है। इसलिए समूचे ब्राह्मणों की आबादी की स्थिति भी कोई तय और अपरिवर्तनीय नहीं थी।

अस्पृश्य जातियों के उद्भव और विकास में **विवेकानन्द झा** ने **चार चरणों** की बात की है, जिसके ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। पहला चरण था वैदिक युग। ऋग्वैदिक काल में अस्पृश्यता का कोई जिक्र नहीं है। उत्तर-वैदिक काल में भी चाण्डालों का हीन शूद्रों के रूप में जिक्र किया गया है और उनसे विकर्षण प्रकट किया गया है, लेकिन स्पष्ट रूप में अस्पृश्यता का कोई जिक्र नहीं है। दूसरा चरण था, 700 ईसवी पूर्व से लेकर 200 ईसवी तक। इस युग में कुछ जातियाँ स्पष्ट रूप से अस्पृश्य जातियों के रूप में पैदा होती हैं। इसी युग के दौरान दास श्रम का अर्थव्यवस्था में बड़े पैमाने पर प्रयोग होता है और फिर पहली सदी ईसवी से सामन्तवादी उत्पादन पद्धति का उदय होता है। तीसरा दौर था, 200 ईसवी से 600 ईसवी तक। इस दौर में कुछ नये जनजातीय समूह आर्य वैदिक समाज में अस्पृश्य जातियों के रूप में दर्ज हुए। और चौथा दौर था 600 ईसवी से 1200 ईसवी तक जो कि सामन्तवाद का उच्च युग है और इसी युग में अस्पृश्यता बड़े पैमाने पर एक परिघटना के रूप में पैदा होती है। बी.एन.एस. यादव ने इस ओर ध्यानाकर्षित किया कि सामन्ती अर्थव्यवस्था के विकास के

साथ गाँवों का महत्व बढ़ा और स्थिर और स्थैतिक गाँवों की व्यवस्था आयी, जो दमित और शोषित जातियों को गतिमानता की कोई आज्ञा नहीं देती थी, खास तौर पर कारीगर जातियों को। यादव के अनुसार इस कारक ने भी अस्पृश्यता को बढ़ावा दिया क्योंकि इसने सबसे निचले तबकों की स्थिति को और ज़्यादा नीचे गिराया।

●
 बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने जहाँ एक ओर ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती दी, वहीं उन्होंने वर्ण/जाति व्यवस्था को कोई गम्भीर चुनौती नहीं दी। बल्कि कुछ मायनों में इन धर्मों ने वर्ण/जाति व्यवस्था को मजबूत किया। **इरफ़ान हबीब** ने लिखा है कि बौद्ध और जैन धर्मों ने जाति व्यवस्था के धार्मिक वैधीकरण को अस्वीकार किया, लेकिन जाति व्यवस्था को समाज के तथ्य के रूप में स्वीकार किया। यह बात ठीक लगती है क्योंकि इन धर्मों में दासों, और ऋणी किसानों और साथ ही स्त्रियों के प्रति जो पूर्वाग्रह मौजूद है, वह एकदम स्पष्ट है। जब वैश्य व्यापारिक जातियों ने अपनी आर्थिक शक्तिमत्ता के बढ़ने के साथ ब्राह्मण वर्चस्ववाद का विरोध किया और जैन धर्म में प्रवेश किया, तो एक प्रकार से जैन धर्म में भी जाति व्यवस्था के तत्व आ गये, क्योंकि वैश्य जातियों ने वहाँ भी जातिगत पेशे और सजातीय विवाह की अपनी रूढ़ियों को कायम रखा। आज के समय में तो जैन धर्म काफी हद तक हिन्दू धर्म का एक उपांग-सा बन गया है। इरफ़ान हबीब ने यह भी बताया है कि अहिंसा और कर्म के सिद्धान्त पर बौद्ध धर्म द्वारा बल दिया जाना वास्तव में अस्पृश्य आबादी के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुआ, क्योंकि इन मूल्यों पर बल देते हुए जिन कार्यों को हीन घोषित किया गया वे आम तौर पर अस्पृश्य जातियाँ ही करती थीं। बौद्ध धर्म भी हिन्दू धर्म में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के पैदा होने और उससे भी ज़्यादा उत्साह से गोवध पर रोक लगाने पर बल देने के साथ अप्रासंगिक-सा हो गया। इसलिए नहीं कि हिन्दू धर्म ने शुद्धता के विचार पर अपने दावे को फिर से स्थापित कर दिया था, जैसा कि लूई दूमों का दावा है। बल्कि इसलिए कि बदलते युग के उत्पादन सम्बन्धों के साथ हिन्दू धर्म ने एक बार फिर से क़दम मिला लिये। इस मायने में हिन्दू धर्म एक बेहद लचीला धर्म है, और जैसा कि वेबर ने कहा था, कि यह क्लासिकीय अर्थों में धर्म है ही नहीं (हालाँकि यह विचार सही नहीं है क्योंकि **वेबर** के अनुसार धर्म के लिए 'डॉग्मा' होना आवश्यक है, जबकि हिन्दू धर्म में 'डॉक्सा' प्रभावी है); **अम्बेडकर** का यह कहना एक मायने में ठीक था हिन्दू धर्म का कोर मूल्य जाति व्यवस्था है। वास्तव में, यह जाति व्यवस्था भी हिन्दू धर्म के लचीलेपन को बढ़ाती है। जाति की विचारधारा ने हरेक युग

में शासक वर्गों को एक महत्वपूर्ण उपकरण दिया है। यह एक ऐसी लचीली विचारधारा है जो हरेक युग में,⁵ और विशेष तौर पर प्राक्-पूँजीवादी समाजों में, शासक वर्गों को अपने शासन को और मज़बूत बनाने का उपकरण देती है। यह शासक वर्गों के बर्बर और नंगे शोषण को धार्मिक वैधीकरण देता है, जो कि कर्मकाण्डीय अशमीभूतीकरण का रूप लेता है। निश्चित तौर पर, इसके कारण जाति और वर्ग के बीच एक अन्तर मौजूद रहता है। लेकिन जब तक जाति की आर्थिक और राजनीतिक पंजिकाएँ मुख्य रूप से समाप्त नहीं हो जाती हैं (जैसा कि पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के उदय के साथ हुआ है), तब तक समाज में जाति और वर्ग के बीच एक गहरी संगति (करेस्पॉण्डेंस) मौजूद रहती है। कम-से-कम भारत का इतिहास इस बात की स्पष्ट गवाही देता है। जातिगत विचारधारा वर्ग की व्यवस्था से निश्चित अर्थों में स्वायत्त रहती है। और ऐसा उसके लिए ज़रूरी है, अगर वह सही मायने में प्रभावी बने रहना चाहती है।

अगर जातिगत विचारधारा वर्ग विभाजनों का प्रतिबिम्बन करने लगेगी, तो उसके साथ जुड़ी सारी दिव्यता और प्रभा-मण्डल जाता रहेगा। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि जाति विचारधारा एक धार्मिक विचारधारा है, जो पेशागत, वैवाहिक बन्धनों और शुद्धता/प्रदूषण के पैमाने पर पदानुक्रम को सही ठहराने के लिए धर्म से अपना प्राधिकार प्राप्त करती है। जाहिरा तौर पर, अगर हम इस बात को समझते हैं तो यह समझना आसान होगा कि जाति कभी भी वर्ग के साथ पूर्णतः अतिच्छादित नहीं हो सकती। उनमें एक करेस्पॉण्डेंस का सम्बन्ध ही हो सकता है। लेकिन निश्चित तौर पर इस रूप में भी जाति विचारधारा अपने उद्भव से लेकर आज तक शासक वर्गों को अलग-अलग रूपों में एक ज़बर्दस्त औज़ार देती रही है। यह एक तरफ़ तो ग़रीब मेहनतकश आबादी को ढाँचागत पराधीनता में रखती है, वहीं उन्हें आपस में भी कई जातियों में बाँट देती है। लेकिन यह काम जाति विचारधारा अलग-अलग उत्पादन पद्धतियों में अलग-अलग तरीके से करती है।

जातिगत विचारधारा की यह उपयोगिता ही उसे दिल्ली सल्तनत और मुगल राज्य के शासकों के लिए भी सहनीय बनाती थी, बल्कि कहना चाहिए कि वांछित बनाती थी। **इरफ़ान हबीब** ने दिखलाया है कि मुस्लिम शासकों ने जाति व्यवस्था से छेड़छाड़ करना तो दूर, उसके बारे में कभी दो बुरे शब्द भी नहीं कहे। एकमात्र मुस्लिम प्रेक्षक जिसने जाति व्यवस्था की हल्के स्वर में आलोचना की वह एक वैज्ञानिक था—अलबरूनी। लेकिन इस अपवाद को छोड़ दें, तो मुस्लिम शासकों को कभी जातिगत दमन उत्पीड़न पर कोई आपत्ति नहीं थी। उल्टे सिन्ध की अरबी लोगों द्वारा विजय पर उनकी सेना के सेनापति ने जट्ट आबादी के भयंकर जातिगत दमन का अनुमोदन किया था। इस्लाम केवल मूर्ति पूजा और बहुदेववाद के लिए हिन्दू

धर्म की आलोचना करता है। लेकिन जाति व्यवस्था को तो वह स्वयं ही लालच से देखता है! अगर 'कुरान' में केवल स्वतन्त्र मनुष्य और दास के विभाजन की बात न की गयी होती तो इस्लाम के धार्मिक गुरु और प्रशासक इसे अपने तरीके से अपनाने की कोशिश भी कर सकते थे! और व्यवहारतः जाति व्यवस्था ने इस्लामिक समाज में प्रवेश कर भी लिया। जो दलित और निचली जाति के लोग इस्लाम धर्म में गये, उन्हें *कमीन* कहा गया, जिसका अर्थ हुआ निकृष्ट या निचला। इस सबका अर्थ यह नहीं है कि जाति की विचारधारा में ऐसी कोई विषैली किन्तु दिव्य शक्ति है, जो कि नष्ट नहीं होती और हर चीज़ को प्रदूषित कर देती है। इसका सिर्फ इतना अर्थ है कि जातिगत विचारधारा हर युग में भारत में आये शासक वर्गों को अपने शोषण के वैधीकरण का एक बना-बनाया, बेहद लचीला और उपयोगी उपकरण देती है। ऐसे में, कोई भी शासक वर्ग इसका इस्तेमाल करने से क्यों चूकेगा? यही कारण है कि जाति व्यवस्था पूरे मध्यकालीन भारत में वर्ग शोषण को धार्मिक कर्मकाण्डीय वैधीकरण देने वाली एक उपयोगी विचारधारा के रूप में बरकरार रही।

आधुनिक भारत में जाति की ऐतिहासिकता और

समकालीनता: एक संक्षिप्त नोट

औपनिवेशिक दौर शुरू होने के साथ जाति व्यवस्था में कुछ अहम बदलाव आये। इन बदलावों के पीछे जो सबसे प्रमुख कारक थे, उन्हें कई स्तरों पर देखा जा सकता है।

एक स्तर तो जाति व्यवस्था और जाति पदानुक्रम के मौजूदा रूप को ही कुछ बदलावों के साथ सुदृढ़ करता है। जैसे कि 1793 में स्थायी बन्दोबस्त के लागू होने ने भूमिहीन दलित जातियों के दमन और उत्पीड़न को एक आधार मुहैया कराया। वहीं रैयतवाड़ी भूमि व्यवस्था ने पहले से ऊपर की ओर गतिमान कृषक जातियों के एक हिस्से को ज़मीनों का मालिक बनाया। महालवाड़ी ने ग्राम समुदाय के मुखिया को एक प्रकार से भूमि का नियन्त्रण सौंप दिया। अलग-अलग इलाकों में मौजूद जातिगत पदानुक्रम और समीकरणों में अंग्रेज़ों द्वारा लाये गये भूमि सुधारों ने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। अगर उनसे कुछ हुआ तो यह कि दलित आबादी की स्थिति को भविष्य में भी ढाँचागत तौर पर दमित, शोषित और उत्पीड़ित के रूप में रखने का पूरा इन्तज़ाम हो गया। कहीं पर उनका दमन करने वाली पुरानी उच्च जातियाँ, यानी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियाँ थीं (जैसे कि संयुक्त प्रान्त और उत्तर भारत⁶) और कहीं पर उदीयमान कृषक जातियाँ जो कि कर्मकाण्डीय पदानुक्रम में तो शूद्र की स्थिति में थीं, लेकिन आर्थिक और राजनीतिक तौर पर उनकी स्थिति बेहतर हो चुकी थी।

एक दूसरा स्तर जिस पर अंग्रेजों ने जाति व्यवस्था को प्रभावित किया था, वह था एक हद तक उद्योगों के विकास और रेलवे को लाने में उनकी भूमिका। मार्क्स ने कहा था कि रेलवे और उद्योगों के विकास के साथ जाति व्यवस्था में मौजूद आनुवंशिक श्रम विभाजन टूटेगा। यह बात मोटे तौर पर सही साबित हुई। अंग्रेजों द्वारा उद्योगों का विकास बहुत बड़े पैमाने पर नहीं किया गया था। एक मायने में पुराने उद्योग-धंधे तबाह हुए थे, और कुछ नये औद्योगिक केन्द्र विकसित हुए थे, जिनका काम था कच्चा माल आपूर्ति करना। लेकिन कलकत्ता, बम्बई, सूरत, अहमदाबाद आदि जैसे औद्योगिक केन्द्रों में जो सर्वहारा वर्ग पैदा हुआ, उसके बीच, जाहिरा तौर पर रूढ़ आनुवंशिक श्रम विभाजन होना सम्भव नहीं था। यह सच है कि इस सर्वहारा वर्ग के बीच ज़्यादातर दलित और निम्न जातियों के लोग थे। लेकिन इन जातियों में स्वयं भी तो एक रूढ़ पेशागत विभाजन हुआ करता था। यह रूढ़ आनुवंशिक श्रम विभाजन टूटने की प्रक्रिया अंग्रेजों के दौर में शुरू हो गयी थी। निश्चित तौर पर, यह प्रक्रिया देश के आज़ाद होने और यहाँ पूँजीवादी विकास होने के साथ ज़्यादा तेज़ी से आगे बढ़ी। लेकिन यह एक निर्विवाद तथ्य है कि इसके बीच औपनिवेशिक काल में पड़ चुके थे।

तीसरे स्तर पर ब्रिटिश औपनिवेशिक राज्य ने जाति व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। औपनिवेशिक राज्य ने जाति की पूरी अवधारणा को पुनर्निर्मित किया। निकोलस डर्क्स और उन्हीं के समान **सबऑल्टर्न स्टडीज़** के अन्य अनुसरणकर्ताओं का यह मानना कि जाति औपनिवेशिक राज्य की ओरियण्टलिस्ट निर्मित है, एक प्रकार का आत्मगतवाद (सब्जेक्टिविज़्म) होगा। कोई भी राज्य ऊपर से इस प्रकार का कोई विभाजन निर्मित नहीं कर सकता है, अगर उसका कोई इतिहास न हो। निश्चित तौर पर, यह माना जाना चाहिए कि ब्रिटिश एथनोग्राफिक राज्य की जातियों को जोड़ने, सूचीबद्ध करने, वर्गीकृत करने और व्यवस्थित करने के प्रति जो फ़ंटेिश थी, उसने जातियों के बीच के विभाजन और पदानुक्रम को एक बार झकझोरा और फिर नये तरीके से रूढ़ बना दिया। इस पूरी प्रक्रिया पर अर्जन अप्पादुरई, बर्नार्ड एस. कोन, सूज़न बेली और निकोलस डर्क्स जैसे इतिहासकारों ने काफी लिखा है। सूज़न बेली, सुमित गुहा और रिचर्ड ईटन द्वारा डर्क्स जैसे लोगों की यह आलोचना सही है कि वे औपनिवेशिक राज्य के साथ देशी कुलीनों, जिसमें कि ब्राह्मण भी शामिल हैं, के सहयोग को नहीं देख पाते हैं, जिसके नतीजे के तौर जाति व्यवस्था के आधुनिक रूप की पुनर्रचना हुई। न ही सबऑल्टर्न इतिहासकार इस बात को समझ पाते हैं कि औपनिवेशिक राज्य द्वारा भारतीय जनता के दमन के लिए जाति की रचना का सिद्धान्त एक प्रकार के षड्यन्त्र के सिद्धान्त जैसा है जो कि यह व्याख्या नहीं कर पाता है कि औपनिवेशिक राज्य वास्तव में जो

औपनिवेशिक ज्ञान के अभिलेखागारों का निर्माण कर रहा है, यह उसकी अपनी ज़रूरत है, यानी, बेहतर तरीके से शासन करने की ज़रूरत। यह पूरी कसरत सांस्कृतिक प्रभुत्व की परियोजना के लिए नहीं है, बल्कि इसके पीछे निश्चित राजनीतिक और आर्थिक कारक काम कर रहे थे।

डेक्लान क्विगली ने इस पूरे अप्रोच को ठीक ही प्रत्ययवादी कहा है। क्विगली कहते हैं निकोलस डवर्स, रोनाल्ड इण्डेन, आदि जैसे लोगों के विचारों का नतीजा यह निकलता है कि जाति एक मानसिक निर्मिति बन जाती है, भाषा का खेल बन जाती है। यह दृष्टिकोण एक प्रकार के साम्राज्यवादी अपराधबोध से पैदा हुआ नैतिक 'क्रुसेड' है, जो उन अपराधों के लिए साम्राज्यवाद को जिम्मेदार ठहराता है, जो कि साम्राज्यवाद ने किये ही नहीं है। लेकिन इस सारे मजमे के पीछे इस प्रकार की विचारधाराएँ जो करती हैं, वह यह कि साम्राज्यवाद को और मज़बूत बनाती हैं। क्योंकि साम्राज्यवाद का आज के दौर में सीधा गठबन्धन देश की पुनरुत्थानवादी फासीवादी ताकतों के साथ है। उनका भी यही तर्क है कि जाति तो अंग्रेज़ों ने पैदा कर दी, उससे पहले हिन्दू धर्म में केवल कर्म के आधार पर श्रम विभाजन था, जन्म के आधार पर नहीं।

एक बात स्पष्ट है। पूँजीवाद और बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों के विकास के साथ, और साथ ही शहरीकरण के आगे बढ़ने के साथ जाति के दो पहलू समाप्त की ओर बढ़ रहे हैं। पहला, आनुवंशिक श्रम विभाजन। अब जन्म के आधार पर किसी के कार्य या पेशे को निर्धारित करने की बात करना दूर की कौड़ी हो गयी है। बहुत से स्वरोजगार के पेशों में अभी भी जातिगत चरित्र दिखता है, जैसे कि नाई, धोबी आदि। लेकिन यह अब रूढ़ श्रम विभाजन नहीं है, जिसे कि लाँघा न जा सके। दूसरी बात, अब खान-पान को लेकर जुड़े पूर्वाग्रह भी काफी हद तक टूटे हैं, क्योंकि नये किस्म के गाँवों में उनका उसी रूप में बने रहना सम्भव नहीं है, और शहर में तो उनका पूरी तरह टूट जाना अवश्यम्भावी है। हम कह सकते हैं कि जाति की ये दो पंजिकाएँ अब इतनी धूमिल हो चुकी हैं, कि उन्हें कुछ समय में हम लुप्तप्राय कह सकेंगे। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति और उत्पादन सम्बन्धों के साथ जाति के ये पहलू मेल नहीं खाते हैं, इसलिए पूँजीवाद के साथ उनकी यही नियति थी। हम इसे इरफ़ान हबीब के शब्दों में नहीं कहेंगे कि जाति की आर्थिक और सामाजिक पंजिकाएँ धूमिल हो रही हैं। लेकिन यह निश्चित है कि जाति के उपरोक्त दो पहलू समापन की ओर हैं।

एक पहलू है जो अभी भी बरकरार है और वह पहलू है सजातीय विवाह की प्रथा। और इसका कारण एकदम ठीक यही है कि इसका पूँजीवादी उत्पादन पद्धति से कोई बैर नहीं है। वास्तव में, यह पूँजीवाद के लिए बेहतर है और मेल खाता है। पूँजीवाद के दौर में पितृसत्ता का भी नये रूप में

बरकरार रहने का यही कारण है। और ये दोनों कारक एक-दूसरे को बल देते हैं, यानी कि पितृसत्ता सजातीय विवाह पर आधारित पूँजीवादी जाति व्यवस्था को, और पूँजीवादी जाति व्यवस्था पूँजीवादी पितृसत्ता को। और ये दोनों ही मिलकर पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीपति वर्ग को अपने दमन और शोषण की मशीनरी को चाक-चौबन्द करने अवसर देते हैं। पूँजीवाद एक मायने में सभी प्राक्-पूँजीवादी व्यवस्थाओं से भिन्न होता है। यह अपने शासन का वैधीकरण किसी पारलौकिक सत्ता ने नहीं लेता है। यह अपने शासन का वैधीकरण जनता से 'सहमति' के रूप में लेता है। इसी को **ग्राष्णी** ने वर्चस्व का नाम दिया था। पूँजीपति वर्ग का शासन प्रत्यक्ष प्रभुत्व पर आधारित नहीं होता है, बल्कि वर्चस्व पर आधारित होता है, जिसमें पूँजीपति वर्ग अपने शासन के लिए 'सहमति' का निर्माण करता है। ऐसी किसी भी व्यवस्था में जाति की विचारधारा पहले की तरह शासन और शासक वर्ग को वैधीकरण प्रदान करने वाली विचारधारा नहीं हो सकती है। वास्तव में, कोई भी धार्मिक विचारधारा इस काम को नहीं कर सकती है, क्योंकि अब पूरे शासन का वैधीकरण प्रकृति से ही पारलौकिक नहीं रह गया है, बल्कि इहलौकिक बन गया है। लेकिन जाति व्यवस्था का प्रश्न केवल राज्यसत्ता से जुड़ा हुआ प्रश्न नहीं है। जातिगत मानसिकता और विचारधारा सदियों से भारतीय जनमानस के पोर-पोर में बिठायी गयी है, अपने तमाम परिवर्तनों के साथ। जातिगत मानसिकता और विचारधारा का कोर शुद्धता/प्रदूषण के आधार पर तय होने वाला पदानुक्रम है, न कि किसी विशिष्ट ऐतिहासिक दौर में प्रभावी कोई विशिष्ट जाति पदानुक्रम। यह जातिगत विचारधारा सूक्ष्म रूपों में काम करती है और इसके लिए हमेशा शासक वर्गों के आवाहन की ज़रूरत नहीं होती है। कोई भी पूँजीवादी शासक वर्ग अपने शासन का वैधीकरण जातिगत विचारधारा से नहीं ले सकता है, लेकिन यह दो तरीके से जातिगत विचारधारा का इस्तेमाल कर सकता है। एक जनता के शोषित मेहनतकश हिस्सों को जातिगत आधार पर बाँटने में, और साथ ही, अपने पक्ष में वर्चस्व निर्मित करने के एक उपकरण के रूप में। पूँजीवादी चुनावों के दौरान इस पूरी प्रक्रिया को नंगे तौर पर घटित होते हुए देखा जा सकता है। साथ ही, जैसा कि हमने ऊपर बताया था, शासक वर्ग के विभिन्न धड़े आपस में प्रतिस्पर्द्धा के लिए भी जातिगत समीकरणों का इस्तेमाल करते हैं, हालाँकि हर जाति के शासक जनता के खिलाफ़ एकजुट ही रहते हैं।

कृषि में हुए पूँजीवादी विकास ने पिछले 50 वर्षों में जातिगत संरचना में कई अहम बदलाव लाये हैं। इन बदलावों को मँझोली किसान जातियों के उभार में देखा जा सकता है। दक्षिण भारत से लेकर उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा, पंजाब और गुजरात तक यह एक मान्य परिघटना है। इनमें से अधिकांश मँझोली जातियाँ पिछड़ी हुई जातियाँ हैं, जिनकी कर्मकाण्डीय स्थिति शूद्र की है। लेकिन वे

अपने-अपने इलाके की आर्थिक और राजनीतिक शक्ति से सम्पन्न दबंग जातियाँ बन चुकी हैं। अन्य सभी जातियाँ, जिनमें कि ब्राह्मण और ठाकुर शामिल हैं, इनके प्रभुत्व के तहत ही रहती हैं। इन्हें हम कुलक जातियाँ⁷ भी कह सकते हैं। इस पूरी परिघटना को ग्लोरिया रहेजा, मैकिम मैरियट आदि जैसे समाजशास्त्रियों ने सैद्धान्तिक तौर पर सूत्रबद्ध करने के विचारणीय प्रयास किये हैं। उत्तर प्रदेश के एक गाँव पहाँसू का अध्ययन करते हुए रहेजा बतलाती हैं कि इस गाँव में गुज्जर दबंग जाति के रूप में मौजूद हैं, और अन्य तमाम जातियाँ उनके इर्द-गिर्द हैं। यहाँ रहेजा 'प्रभुत्वशाली जाति की केन्द्रीयता' का सिद्धान्त देती हैं, और बताती हैं कि अन्य सभी जातियों को गुज्जर जाति दान-दक्षिणा देती है, लेकिन कन्यादान को छोड़कर वह कोई दान लेती नहीं है। दान देना उसकी उच्च स्थिति का लक्षण है। गुज्जरों का अन्य जातियों से सत्ता और शक्ति का सम्बन्ध है लेकिन बाकी जातियों में ऐसा कोई आपसी पदानुक्रम नहीं नज़र आता है।

एक और परिघटना है जिस पर हम पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के प्रभावी होने के नतीजे के तौर पर गौर कर सकते हैं। यह है दान-दक्षिणा पर जीने वाले ब्राह्मणों की स्थिति की गिरावट। कई जगहों पर तो यह दलितों जैसी हो गयी है। हमारे विचार में इसका कारण यह है कि एक पूँजीवादी समाज में विनिमय ही प्रतिष्ठित होता है, या फिर बराबरी की हैसियत रखने वालों में दिये जाने वाले उपहार (हालाँकि हम सभी जानते हैं कि वह भी एक प्रकार का विनिमय ही है!)। पूँजीवादी सामाजिक संरचना के उदय के साथ दान-दक्षिणा पर जीवन व्यतीत करने वाले ब्राह्मणों की स्थिति भौतिक और कर्मकाण्डीय तौर पर नीचे जाना सामान्य है और समझा जा सकता है।

अन्त में...

ऐसी तमाम परिघटनाएँ गिनायी जा सकती हैं जो कि पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के आने के साथ जाति व्यवस्था में पैदा हुई हैं। निश्चित तौर पर पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था जाति व्यवस्था को खत्म नहीं करेगी। यह उसे सजातीय विवाह के तौर पर सम्पत्ति की निरन्तरता प्रदान करती है और साथ ही उसे एक शक्तिशाली राजनीतिक उपकरण देती है, जिससे कि मेहनतकश आम जनता को बाँटा जा सके। पूँजीवादी विकास और एक विशाल सर्वहारा वर्ग के उदय के साथ वर्ग और जाति के करेस्पॉण्डेंस में अन्तर का पहलू अब बहुत बढ़ चुका है। यह करेस्पॉण्डेंस गहरे अध्ययन से ही दृष्टिगोचर होता है। मिसाल के तौर पर, आज के दौर में भूमिहीन किसानों के वर्ग और जाति में यह करेस्पॉण्डेंस थोड़ा ज़्यादा मज़बूती से नज़र आता है। लेकिन पूरे सर्वहारा वर्ग में अन्य पिछड़ी जातियों और मँझोली जातियों की आबादी भी बहुत तेज़ी से बढ़ी है। लेकिन जाति और वर्ग

के बीच के करेस्पॉण्डेंस के कमजोर होने से पूँजीवाद को जातिवादी विचारधारा के इस्तेमाल का एक अवसर भी मिलता है। जहाँ एक ओर स्वतःस्फूर्त तरीके से मजदूर वर्ग में जाति के बन्धन टूटने की स्थितियाँ पैदा होती हैं, वहीं शासक वर्गों को यह मौका भी मिलता है कि सर्वहारा वर्ग को जाति के आधार पर बाँटा जा सके। अगर यह अन्तर छोटा होता और सर्वहारा वर्ग का 80 या 90 फीसदी हिस्सा दलित आबादी से आता, तो इससे उसे बाँटने के लिए जातिवादी विचारधारा के इस्तेमाल की गुंजाइश कम होती।

इसलिए सजातीय विवाह के ज़रिये पवित्र बुर्जुआ सम्पत्ति की निरन्तरता को बनाये रखने और सर्वहारा वर्ग को बाँटने का एक मजबूत औज़ार जातिगत विचारधारा पूँजीवाद को दे रही है। ऐसे में, पूँजीवाद से जाति व्यवस्था को खत्म करने की उम्मीद करना मूर्खता होगा। लेकिन यह समझना भी अनिवार्य है कि जाति व्यवस्था अपने उद्गम से लेकर आज तक एक जैसी नहीं रही है; वह सतत् परिवर्तनशील रही है और इस परिवर्तन के पीछे मूल कारक बदलते उत्पादन सम्बन्ध, उत्पादन पद्धति और वर्ग अन्तरविरोध रहे हैं। यह भी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के साथ अस्तित्व में आयी है,⁸ और उनके वैधीकरण का उपकरण बनी है। ऐसे में, वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के किसी भी रूप में मौजूदगी तक जातिगत अन्तरविरोध, विचारधारा और मानसिकता की मौजूदगी भी बनी रहेगी। एक वर्गविहीन समाज की लड़ाई ही एक जातिविहीन समाज की लड़ाई हो सकती है। इसका अर्थ निश्चित तौर पर यह नहीं है कि एक वर्गविहीन समाज की लड़ाई के पूरे होने तक जाति के प्रश्न को कालीन के नीचे खिसका दिया जाय। इसका अर्थ तो उल्टे यह है कि पूँजीपति वर्ग के खिलाफ संघर्ष में सर्वहारा वर्ग को आज से ही उन सभी विचारधाराओं के खिलाफ, पहचानों के खिलाफ संघर्ष करना होगा जो उसे तोड़ता है, बाँटता और उसके प्रतिरोध को विघटित करता है। जाति और जातिवाद के खिलाफ निरन्तर, अनथक प्रचार के बिना सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद के विरुद्ध संगठित नहीं हो सकता, और सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी सत्ता की स्थापना और एक वर्ग विहीन साम्यवादी समाज की ओर आगे बढ़े बगैर जाति और जातिवाद का नाश नहीं हो सकता।

निश्चित तौर पर, जाति पर लिखे गये इतिहास का यह कोई व्यापक और पूर्ण व्यौरा नहीं था और न ही एक आलेख में ऐसी उम्मीद करना जायज़ होगा। ऐतिहासिक तथ्यों को पेश करने से ज़्यादा हमारा मकसद यह था कि जाति/वर्ग व्यवस्था के हर प्रकार के परकीयकरण (चाहे वह उत्तरआधुनिकतावादियों, प्राच्यवादियों आदि द्वारा किया जाता हो, राज्यसत्ता द्वारा किया जाता हो, या फिर धार्मिक प्राधिकारों द्वारा किया जाता हो, या फिर स्वयं जाति के आधार पर

अस्मितावादी राजनीति करने वालों द्वारा किया जाता हो), उसके हर प्रकार के *वेलोराइज़ेशन*, उसके हर प्रकार के आदर्शाकरण, अतिमूलकरण और नैसर्गिकीकरण को खारिज किया जाय; जाति व्यवस्था को उसकी ऐतिहासिकता और गतिमानता में समझा जाय; इस ऐतिहासिकता और गतिमानता के मूल चरित्र को समझा जाय, यानी कि उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादन पद्धतियों और वर्ग अन्तरविरोधों की गतिकी को समझा जाय; और यह समझा जाय कि यदि वर्ण/जाति व्यवस्था कुछ हजार साल के उद्भव और विकास में अपने सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ या परिवेश से निर्धारित होते हुए यहाँ तक पहुँची है, तो आगे भी ऐसा ही होगा।

यह कहना कि 'जाति सबकुछ निर्धारित करती है' उतना ही बड़ा अपचयनवाद है जितना कि यह कहना कि 'आर्थिक कारक ही सबकुछ निर्धारित करते हैं' और मार्क्स और एंगेल्स ने सामाजिक परिघटना के चरित्र निर्धारण में ऐसे हर प्रकार के निर्धारणवाद को खारिज किया है, और एक द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी पद्धति की वकालत की है। अगर यह समझा जाय कि जाति/वर्ण व्यवस्था का एक आदि है, तो उसके अन्त की परियोजनाओं पर भी ज़्यादा अर्थपूर्ण ढंग से सोचा जा सकता है। बिना इसे इसकी ऐतिहासिकता में समझे, या तो हम पराजयवाद और निराशावाद के शिकार हो सकते हैं, या फिर एक छद्म आशावाद के, जो कि हमेशा ही निराशावाद से ज़्यादा खतरनाक होता है। हमारे इस आलेख का यही मकसद था कि जाति-व्यवस्था का एक ऐतिहासिक समझदारी को विनम्रतापूर्वक आपके सामने पेश किया जाय, और अगर हम एक धुँधली तस्वीर भी पेश कर पायें हों, तो अपने आपको सफल मानेंगे।

तकनीकी व प्रूफ सम्बन्धी गलतियों के कारण संगोष्ठी में पढ़े गये आलेख में कुछ अशुद्धियाँ चली गयीं थी जिन्हें प्रकाशित संस्करण में ठीक कर दिया है। — लेखक

1 'सापेक्षिक अतिच्छादन' के स्थान पर 'पूर्ण अतिच्छादन'

2 'बताते हैं' के स्थान पर 'बताती है'

3 'छोटे पैमाने का मुद्राविहीन समाज' के स्थान पर 'छोटे पैमाने का मुद्राविहीन किसान समाज'

4 'इस तौर पर' के स्थान पर 'इस दौर में'

5 'हरेक युग में' के स्थान पर 'जो हरेक युग में'

6 'बंगाल' के स्थान पर 'उत्तर भारत'

7 'कुलक जाति' के स्थान पर 'कुलक जातियाँ'

8 'जाति व्यवस्था का जन्म वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के साथ अस्तित्व में आयी है' के स्थान पर 'जाति व्यवस्था वर्ग, राज्य और पितृसत्ता के साथ अस्तित्व में आयी है'

जाति, वर्ग और अस्मितावादी राजनीति

शिवानी

जिसे अस्मितावादी राजनीति या पहचान की राजनीति (आइडेण्टिटी पॉलिटिक्स) कहा जाता है, उसकी शुरुआत बड़े पैमाने पर 1980 के दशक में देखी जा सकती है। इसके केन्द्र में जैसा कि इसके नाम से ही साफ है, अस्मिता या पहचान की अवधारणा है। समाजशास्त्रीय या सामाजिक नृतत्वशास्त्रीय (सोशल एन्थ्रोपोलॉजिकल) अर्थों में 'अस्मिता' आचरण-सम्बन्धी एवं वैयक्तिक विशेषताओं का वह समुच्चय है जो किसी भी व्यक्ति को एक समूह के सदस्य के रूप में पहचान देता है। यह पहचान जाति, लिंग, धार्मिक सम्प्रदाय, नस्ल आदि वस्तुगत सामाजिक श्रेणियों द्वारा निर्धारित होती है और आम तौर पर सापेक्षिक रूप से स्थिर, स्थैतिक और स्वाभाविक रूप से प्रदत्त मानी जाती है। अस्मितावादी राजनीति का प्रस्थान बिन्दु अस्मिता की यही परिभाषा है। लेकिन यह एक सामूहिक परिघटना के तौर पर किसी एक अस्मिता की बात नहीं करती है; बल्कि कई सारी विखण्डित अस्मिताओं पर जोर देती है। अस्मिताओं का विखण्डीकरण न सिर्फ मनुष्य के व्यक्तित्व के धरातल पर होता है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के धरातल पर भी किया जाता है। एक वर्ग समाज में किसी भी मनुष्य की बहुआयामी अस्मिताएँ होती हैं। हर मनुष्य की कोई जाति, भाषा, क्षेत्र, राष्ट्रीयता की अस्मिताएँ होती हैं। अस्मितावादी राजनीति इन सभी पहचानों को उभारती है और इनका सारभूतीकरण (एसेंशियलाइज़ेशन) करती है। एक पहचान (जिसे शुद्ध अर्थों में पहचान कहा भी नहीं जा सकता है) जिसका यह राजनीति जिक्र तक नहीं करती है, वह है वर्ग पहचान। वर्ग अस्मिता प्राकृतिक रूप, नस्लीय, क्षेत्रीय, या भाषाई रूप से प्रदत्त नहीं होती। वर्ग अस्मिता समाज की बुनियादी गतिविधि यानी कि उत्पादक गतिविधि में निर्मित होती है, जिसमें लगे लोग आपस में अपनी इच्छा से स्वतन्त्र कुछ निश्चित सामाजिक सम्बन्ध स्थापित

लेखिका 'स्त्री मुक्ति लीग' की कार्यकर्ता हैं।

सम्पर्क: shivanikaul.s@gmail.com

करते हैं। लेकिन अस्मितावादी राजनीति इस पहचान पर कभी बल नहीं देती। आपको ऐसे स्वयंसेवी संगठन मिल जायेंगे जो जेण्डर, जाति, क्षेत्रीय या भाषाई पहचान के आधार पर बने हों। लेकिन आपको कोई ऐसा एन.जी.ओ. बिरले ही मिलेगा जो मजदूर एन.जी.ओ. हो!

आदिम समुदायगत अस्मिता को अतिरेखांकित और वर्ग अस्मिता को नजरअन्दाज करने के पीछे का मकसद क्या है? इसे समझने के लिए सबसे पहले अस्मितावादी राजनीति के उदय की वैश्विक भौतिक पृष्ठभूमि को समझना ज़रूरी है। साथ ही, 'नये सामाजिक आन्दोलन', विश्व सामाजिक मंच जैसे मंचों और गैर-सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) के उद्भव की परिघटना को अस्मितावादी राजनीति के परिप्रेक्ष्य में सन्दर्भित करना होगा।

अस्मितावादी राजनीति के उदय की भौतिक पृष्ठभूमि

1980 और 1990 के दशक में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत के बाद दुनिया के उन देशों में जहाँ नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ लागू की गयीं, वहाँ बड़े पैमाने पर लोग उजड़ें, बेरोजगारी तेज़ रफ्तार से बढ़ी और जनता में असन्तोष काफी तेज़ी से बढ़ा। ऐसे में, जनता के बीच भूमण्डलीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभावों से पनप रहे भयंकर गुस्से पर ठण्डे पानी का छिड़काव करने और तीखे होते वर्ग अन्तरविरोधों को धूमिल करने के लिए अस्मितावादी राजनीति के ऐसे विचारधारात्मक औज़ार की ज़रूरत पैदा हुई, जो कि प्रत्यक्ष तौर पर काफी रैडिकल बातें करती हो। अस्मितावादी राजनीति "परिधिगत" या "हाशिये" पर धकेले दी गयी अस्मिताओं या पहचानों की बात करके वर्ग अस्मिता को दृष्टि-ओझल करती है। मिसाल के तौर पर, फ्रांसीसी सरकार के पैसे पर काम करने वाला एन.जी.ओ. वर्ल्ड माउण्टेंस पीपुल्स असोसियेशन। यह एन.जी.ओ. देश के ही नहीं बल्कि दुनिया भर के पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को एकजुट करने का आह्वान करता है! इसके अनुसार पर्वतीय जनता में गरीब और अमीर हों भी तो उनके मुद्दे एक हैं, क्योंकि वे पर्वतों पर रहते हैं! यह भी एक प्रकार की क्षेत्रीय और जातीयवादी पहचान के आवाहन पर आधारित राजनीति है।

इस तरह भूमण्डलीकरण की वजह से तीव्र हुए वर्ग विभाजन और ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप किसी वर्ग-आधारित एकता को बनने से रोकने में अस्मितावादी राजनीति का इस्तेमाल किया गया। पहचान की राजनीति वस्तुतः विश्व पूँजीवाद की आन्तरिक कार्यप्रणाली का ही अंग है, जो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया की अनिवार्य विस्फोटक सामाजिक परिणतियों को नियन्त्रण में रखने के लिए एक प्रति-सन्तुलनकारी शक्ति के रूप में स्वयं पूँजीवाद द्वारा पोषित है। पूँजी का स्वतन्त्र तर्क यदि निर्बाध गति से विकसित हो, तो सामाजिक वर्गीय

ध्रुवीकरण और उग्र सामाजिक अन्तरविरोधों का विस्फोट जल्दी ही पूँजीवादी व्यवस्था को उसकी परिणति तक पहुँचा देगा। इसे रोकने के लिए पूरी दुनिया में बुर्जुआ सिद्धान्तकार राज्यसत्ताएँ अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ तरह-तरह के 'स्पीड ब्रेकर' और 'सेफ्टी वॉल्व' बनाती रहती हैं, व्यवस्था की हिफाजत के लिए दूसरी, तीसरी सुरक्षा पंक्तियाँ खड़ी करती रहती हैं, तथा जनसंघर्षों के बीच तरह-तरह के 'ट्रोजन हॉर्स' घुसाती रहती हैं। वर्ल्ड सोशल फोरम जैसे मंच इसी ट्रोजन हॉर्स की भूमिका को अंजाम दे रहे हैं, जो कि तथाकथित 'नये सामाजिक आन्दोलनों' का साझा मंच होने का दावा करते हैं। यह नाम भी विलक्षण है। ये अपने सामाजिक होने पर इसीलिए जोर देते हैं, क्योंकि ये राजनीतिक नहीं हैं। राजनीतिक होने का अर्थ होगा सत्ता के प्रश्न को उठाना, व्यवस्था के प्रश्न को उठाना। लेकिन ये आन्दोलन यही प्रश्न नहीं उठाना चाहते हैं। आज यही काम तथाकथित 'न्यू सोशल मूवमेण्ट्स' तथा अस्मितावादी राजनीति का नारा बुलन्द करने वाले तमाम एन.जी.ओ. और उनके द्वारा प्रायोजित संगठन एवं आन्दोलन कर रहे हैं। प्रश्नों के दायरे से ये सत्ता और व्यवस्था को गायब कर देते हैं। पूँजीपति वर्ग कभी कठघरे में नहीं खड़ा किया जाता। दुश्मन कौन है यह नहीं बताया जाता, लड़ना किससे है यह नहीं बताया जाता। सरकार पर उंगली उठाने को गुलत बताया जाता है, और आमूलगामी (रैडिकल) जुमलों का इस्तेमाल करते हुए जनता की पहलकदमी, नीचे से पहलकदमी, आदि की बात करते हुए, हर दुख, तकलीफ, और दिक्कत की जिम्मेदारी जनता पर डाल दी जाती है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बिन्दु की तरफ ध्यानाकर्षण की ज़रूरत है। पूँजीवादी व्यवस्था एक 'होमोजेनाइज़र' होती है, और उसे पहचान के धरातल पर एक हद तक की एकरूपता की आवश्यकता पड़ती है। आर्थिक धरातल पर पूँजीवाद एक सार्वभौमीकरण (यूनीवर्सलाइज़ेशन) की प्रक्रिया को अंजाम देता है। आर्थिक सार्वभौमीकरण अधिरचना में भी सार्वभौमीकरण को अभिव्यक्त करता है। एक सार्वभौमीकरण पूँजीवाद आदमी/औरत की अस्मिता का भी करता है और एक मनुष्य के रूप में, एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में भी करता है, कम-से-कम फौरी तौर पर तो स्थापित करता ही है। पूँजीवाद ही मजदूर वर्ग के भीतर एक वर्ग बोध पैदा करता है, और इस रूप में अगर अभी वर्ग को भी एक विशेष ऐतिहासिक अर्थ में अस्मिता कहें तो, एक वर्ग अस्मिता का निर्माण करता है। लेकिन यह सार्वभौमिक अस्मिता पूँजीवाद के लिए खास तौर पर उसके सर्वाधिक मरणासन्न और परजीवी दौर में खतरनाक साबित हो सकती है, क्योंकि स्वतः ही यह वर्ग ध्रुवीकरण की ओर बढ़ती है। पूँजीवाद समाज में वर्ग विभाजन को पहली बार इतने तीखे रूप में पैदा करता है। इस प्रक्रिया में पैदा होने वाली यह वर्ग चेतना ही पूँजीवाद के लिए घातक होती है।

इसलिए अपनी सारी प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त और मरणासन्न पूँजीवाद को आर्थिक धरातल पर तो सार्वभौमीकरण की ज़रूरत पड़ती है, लेकिन अधिरचना के धरातल पर उसे खण्ड (फ्रैगमेण्ट) चाहिए होते हैं। सामन्तवाद-विरोधी संघर्ष में उसने जिन अस्मिताओं के खिलाफ लड़ाई छेड़ी थी, उन्हीं मृत अस्मिताओं को जीवित करने की आवश्यकता पड़ती है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही अस्मितावादी राजनीति के पीछे के राजनीतिक एजेण्डा को अवस्थित किया जा सकता है।

अस्मितावादी राजनीति और उत्तरआधुनिकतावाद

यह और कुछ नहीं उत्तरआधुनिक एजेण्डा है। उत्तरआधुनिक दर्शन कहता है कि महाख्यानों (मेटा-नैरेटिव्स) का दौर समाप्त हो चुका है। हर किस्म का सार्वभौमीकरण, सामान्यीकरण, समांगीकरण (होमोजेनाइज़ेशन), और मानकीकरण दमनकारी होता है। पश्चिमी साम्राज्यवाद आधुनिकता, तर्कणा, आदि के नाम पर प्राच्य विश्व को अधीन बनाता है। उत्तरआधुनिकतावादी दर्शन के अनुसार, दरअसल, ये सभी विचारधाराएँ प्रबोधन-नामक एक पश्चिमी षड्यन्त्र का हिस्सा हैं! पश्चिमी औपनिवेशिक विमर्श के बरक्स यह 'पारम्परिक ज्ञान', 'प्राच्य मासूमियत', देशी समुदाय, पहचान, भाषा, संस्कृति आदि को महिमा-मण्डित करता है। हालाँकि, उत्तरआधुनिकतावाद हर किस्म के सारभूतीकरण के खिलाफ़ है, लेकिन आधुनिकता के विरुद्ध अपनी इस जंग में यह तमाम प्रागाधुनिक/प्राच्य पहचानों का सकारात्मक निरपेक्षीकरण (पॉज़िटिव एक्सॉल्यूटाइज़ेशन) करता है। जो देशी है, प्रागाधुनिक है, वह अच्छा है; आधुनिकता अवांछित है।

ल्योतार ने 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध में दर्शन के धरातल पर उत्तरआधुनिकतावाद के एजेण्डे की शुरुआत की थी। आगे तमाम 'उत्तर' विचारसरणियाँ जुड़तीं चली गयीं, जैसे कि उत्तरऔपनिवेशिक चिन्तन, उत्तर-संरचनवाद, उत्तर-मार्क्सवाद, उत्तर-नारीवाद, उत्तर-प्राच्यवाद आदि। मूलतः ये सभी उत्तरआधुनिक चिन्तन के ही अलग-अलग अंग, आयाम या विस्तार हैं। इन सभी चिन्तन-सरणियों के केन्द्र में 'सत्ता' (पावर) की अवधारणा है। उत्तरआधुनिक चिन्तन के एक प्रमुख दिग्गज मिशेल फूको के अनुसार सत्ता पोर-पोर में समायी होती है और विकेन्द्रित होती है। यह रोज़मर्रा के जीवन के अंग-अंग में व्याप्त होती है और लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत (इण्टर्नलाइज़) कर ली जाती है। यह अप्रतिरोध्य है क्योंकि कोई भी कारगर सामूहिक प्रतिरोध, यानी जिसमें सामाजिक रूपान्तरण की सम्भावना-सम्पन्नता है, 'सत्ता के नये रूप' पैदा कर देता है। इसलिए कोई भी सामाजिक रूपान्तरण के

लिए सामूहिक तौर पर लड़ी जाने वाली लड़ाई, अवांछित है। कोई भी सामूहिक प्रतिरोध सत्ता के नये रूपों को जन्म देगा और इसलिए दमन का सामूहिक प्रतिरोध व्यर्थ है। अगर सामूहिक प्रतिरोध अन्ततः सत्ता को ही जन्म देगा, दमन को ही जन्म देगा तो उसके खिलाफ प्रतिरोध की ज़हमत उठाने की ज़रूरत क्या है? ऐसे में आप सत्ता का प्रतिरोध कैसे कर सकते हैं? फूको के अनुसार आप अपने निजी जीवन में हर प्रकार के मानक और सार्वभौम का खण्डन करते हुए सत्ता और दमन का प्रतिरोध कर सकते हैं। सत्ता और दमन के मूल में ही मानकीकरण, सावैभौमीकरण और सामन्यीकरण की अवधारणा होती है। व्यक्तिगत निजी जीवन में जेण्डरगत अस्मिता, जातिगत अस्मिता, आदि से सम्बन्धित हर 'नॉर्म' और 'यूनीवर्सल' के खिलाफ विद्रोह करना ही एकमात्र रास्ता है। इसी को फूको ने क्वियर थियरी का नाम दिया। यह अनायास नहीं है कि आज एन.जी.ओ. जगत में वैकल्पिक लैंगिक पहचान को लेकर तमाम एन.जी.ओ. काम कर रहे हैं, जो कि एल.जी.बी.टी. (लेस्बियन-गे-बाईसेक्शुअल-ट्रांसजेण्डर) समुदाय के अधिकारों के लिए काम कर रहे हैं। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार के सामूहिक प्रतिरोध (वर्ग प्रतिरोध पढ़ें!) की अवधारणा को खारिज करके उत्तरआधुनिकतावाद परिवर्तन से हर प्रकार का अभिकरण छीन लेता है।

तो समाधान किस चीज़ में है? कुछ अन्य उत्तरआधुनिक दार्शनिक फूको से थोड़ा अलग समाधान बताते हैं। उनके अनुसार, समाधान उन संरचनाओं में है जो कि सत्ता के प्रभाव से दूषित नहीं हुई हैं। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद सत्ता का एक ही रूप हैं। उनका प्रतिरोध उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में राष्ट्रवाद की ज़मीन से किया गया। लेकिन राष्ट्रवाद भी एक आधुनिक दर्शन है, जो कि पश्चिम का उत्पाद है। इसलिए इसमें भी अन्तर्निहित सत्ता संरचनाएँ हैं। यही कारण है कि राष्ट्रवाद की सफल लड़ाई के बाद अस्तित्व में आयी उत्तर-औपनिवेशिक राज्यसत्ता भी दरअसल आधुनिक राज्यसत्ता है। आज साम्राज्यवाद का विरोध आधुनिकतावादी ज़मीन से नहीं किया जा सकता है। क्योंकि आधुनिकता साम्राज्यवाद के ही विश्व प्रभुत्व की सांस्कृतिक-दार्शनिक परियोजना है और इसकी ज़मीन पर खड़े होकर प्रभुत्व और सत्ता अप्रतिरोध्य है। इसलिए इन चिन्तकों के अनुसार, हमें वे संरचनाएँ ढूँढनी होंगी जो प्रागाधुनिक हैं, यानी कि सत्ता से अनछुई, या, पश्चिमी प्रभावों से अनछुई हैं! और ये संरचनाएँ क्या हो सकती हैं? सभी प्रागाधुनिक पहचानें, सभी "आदिम" अस्मिताएँ (यहाँ आदिम शब्द का प्रयोग पिछड़ा होने के रूप में नहीं किया गया है, बल्कि उन अस्मिताओं के लिए किया गया है जो कि सामाजिक-आर्थिक अन्तर्क्रिया या विनिमय के दौरान नहीं पैदा होतीं, बल्कि नैसर्गिक रूप में प्रदत्त होती हैं) जैसे आदिवासी, दलित, स्त्री (विशेषकर घर के भीतर!) आदि। इस तरह

उत्तरआधुनिकतावादी चिन्तन के अनुसार प्रबोधन, वैज्ञानिक क्रान्तियाँ, तार्किकता, मानवतावाद, आदि पश्चिम के वैश्विक प्रभुत्व की योजना का अंग हैं। इनके अनुसार, इन सभी का खण्डन ज़रूरी है। क्योंकि ये अपचयनवादी हैं, सार्वभौमिकतावादी हैं, एकलतावादी हैं, सजातीयताकरणवादी हैं आदि।

इनमें विशेष निशाना हमेशा मार्क्सवाद को बनाया जाता है। मार्क्सवाद को भी 'आधुनिकतावादी महाख्यान' का हिस्सा बताकर प्रबोधन का विश्व प्रभुत्व कायम करने की पश्चिम की साज़िश का अंग बताकर खारिज कर दिया जाता है। हालाँकि जिसने मार्क्सवाद की बुनियादी रचनाओं का भी अध्ययन किया है, वह जानता है कि मार्क्सवाद ने प्रबोधन की तरफ कभी भी अद्वन्द्वात्मक या अनालोचनात्मक अप्रोच नहीं अपनाया है। मिसाल के तौर पर, मजदूरों के लिए लिखे गये एक पैम्फलेट 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' में एंगेल्स ने प्रबोधन-कालीन दर्शन और तर्कणा के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों की ओर ध्यान खींचा था। लेकिन प्रबोधन की पूरी परियोजना को कचरापेटे में फेंकने के पीछे फूको और ल्योतार जैसे लोगों का मकसद अपने बुर्जुआ पूर्वजों की विरासत को कचरे में फेंकना नहीं है, जितना कि वह मार्क्सवाद पर हमला है। यह मार्क्सवाद के विरुद्ध एक अप्रत्यक्ष युद्ध चलाने के समान है। मार्क्सवाद और सामाजिक रूपान्तरण की बात करने वाली सभी विचारधाराओं को पश्चिम का षड्यन्त्र घोषित कर दिया जाता है और कहा जाता है कि हमें वर्ग, समाजवाद आदि के बारे में नहीं सोचना चाहिए। हमें तो छोटे-छोटे खण्डों को बचाना है, यानी समुदाय, जाति, घरेलू स्त्री जगत, आदि-आदि। ये सभी पश्चिमी प्रबोधन की सत्ता संरचनाओं से स्वायत्त 'स्पेस' हैं। चूँकि 'मेटा-नैरेटिव्स' का दौर बीत गया है—इसलिए वर्ग संघर्ष, क्रान्ति, सामाजिक परिवर्तन, जो कि महाख्यान हैं—का दौर बीत गया है। यह उत्तरआधुनिक दौर है और उत्तरआधुनिक दौर में ल्योतार के ही शब्दों में, 'मेटानैरेटिव्स (महाख्यान) अविश्वस्नीय होते हैं।' ('दि पोस्टमॉडर्न कण्डिशन: ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज', 1979)

इसलिए अब छोटे-छोटे, विखण्डित, परिधिगत संघर्षों का समय है। जाति के संघर्षों का, महिलाओं के संघर्षों का, आदिवासियों के संघर्षों का, पर्यावरण को बचाने के मूल देशी समुदायों के संघर्षों का, आदि। इसी व्यवस्था के भीतर रहते हुए इन परिधिगत पहचानों के लिए स्वायत्त स्पेस बनाना है।

कुछ वर्षों पहले, "उत्तरमार्क्सवादी" चिन्तक अर्नेस्टो लाक्लाऊ और चैपटेल मारुफ अपनी पुस्तक 'वर्चस्व और समाजवादी रणनीति: एक आमूलगामी जनवादी राजनीति की ओर' (हेजेमनी एण्ड सोशलिस्ट स्ट्रैटेजी: टूवर्ड्स ए रैडिकल डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स) में इस उत्तरआधुनिकतावादी दर्शन को नयी ऊँचाइयों पर ले गये हैं! लाक्लाऊ और मारुफ के अनुसार, हर प्रकार का दमन

आत्मगत होता है। इसका वस्तुगत यथार्थ से, दमन की ठोस अमानवीयताओं से, कोई लेना-देना नहीं होता। यह वस्तुतः शोषणकारी और दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध किसी प्रकार के व्यापक संयुक्त आन्दोलन की सम्भावना को ही नकारना है। दूसरे अर्थों में, यहाँ भी सत्ता संरचनाओं की अप्रतिरोध्यता को ही रेखांकित किया जा रहा है।

भारत में उत्तरआधुनिक एजेण्डा और सबऑल्टर्न स्टडीज़

भारत की बौद्धिक दुनिया में उत्तरआधुनिक एजेण्डा को सबसे प्रभावी ढंग से लागू करने का काम **सबऑल्टर्न स्टडीज़** के इतिहासकारों ने किया है। शुरुआत में मोटा-मोटी मार्क्सवादी शब्दावली और मार्क्सवादी विश्लेषण के दायरे में रहने के बाद सबऑल्टर्न स्टडीज़ में 'भाषाई मोड़' (लिंग्विस्टिक टर्न) आया, जो कि एडवर्ड सर्द और मिशेल फूको का प्रभाव था। सबऑल्टर्न स्टडीज़ में भी खास तौर पर **पार्थ चटर्जी**, **दीपेश चक्रवर्ती**, **ज्ञानेन्द्र पाण्डेय** और **ज्ञान प्रकाश** ने इस एजेण्डा को बखूबी लागू किया। 'सबऑल्टर्न स्टडीज़' शृंखला की पुस्तकों के शुरुआती लेखों में **रणजीत गुहा** ने इस सम्पूर्ण उपक्रम का उद्देश्य इतिहास-लेखन में 'अभिजात्य पूर्वाग्रह को दुरुस्त करना' बताया। हालाँकि, उत्तरवर्ती सबऑल्टर्न स्टडीज़ 'व्युत्पन्न विमर्श' (डेरिवेटिव डिस्कोर्स), देशी समुदाय और 'खण्ड' के बीच दोलन करता रहा, जो तीनों ही उत्तरआधुनिक विमर्श की श्रेणियाँ हैं। पार्थ चटर्जी अपनी किताब 'नेशनलिस्ट थॉट इन ए कलोनियल वर्ल्ड: ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स?' में कहते हैं कि भारत का बौद्धिक वर्ग औपनिवेशिक सत्ता-ज्ञान (कलोनियल पावर-नॉलेज) के वर्चस्व में आ गया था और इसलिए वह सिर्फ व्युत्पन्न विमर्श करने में ही सक्षम था। इस तरह से राष्ट्रवादी आन्दोलन में मध्यवर्गीय बौद्धिक जगत पूरी तरह आधुनिक चिन्तन की गिरफ्त में आ गया था। उसका कोई अभिकरण (एजेंसी) नहीं था। इस बौद्धिक जगत के पार, जिसमें सत्ता की संरचनाएँ घुसकर उसे दूषित कर चुकी हैं, सामुदायिक चेतना की दुनिया है जो शुद्ध है, आदिम है, पवित्र है। पार्थ चटर्जी भारत के सन्दर्भ में इसे 'किसान चेतना' से जोड़कर देखते हैं, जो पश्चिमी वर्चस्ववादी प्रभाव से मुक्त है। इसका प्रतीक पुरुष गाँधी को बताया जाता है।

यह एक हैरतअंगेज सादृश्य-निरूपण है। गाँधी एक आधुनिक चिन्तक थे। उनका मानवतावाद धार्मिक आध्यात्मिक आवरण, भाषा एवं पुट के बावजूद सारतः एक बुर्जुआ मानवतावाद था। इस बात पर पार्थ चटर्जी ध्यान देना ज़रूरी नहीं समझते कि उपनिवेशवाद ने किस तरह देशी संरचनाओं को सहयोजित किया और औपनिवेशिक शोषण में उनका इस्तेमाल किया। और ये देशी संरचनाएँ अपनी 'प्राच्य मासूमियत' (जैसा कि आशीष नन्दी ने कहा है) नहीं, बल्कि अपने

निहित स्वार्थों के चलते इस्तेमाल हुई।

एडवर्ड सईद और **गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक** के सबऑल्टर्न स्टडीज़ के प्रोजेक्ट से जुड़ने के बाद खण्डों और समुदायों पर जोर और बढ़ गया। आधुनिक उत्तरऔपनिवेशिक राज्यसत्ता को पश्चिमी सांस्कृतिक प्रभुत्व की प्रबोधन की परियोजना का अंग बताया गया। यह राज्यसत्ता राष्ट्रवाद के ज़रिये आयी थी, जो कि औपनिवेशिक विमर्श के व्युत्पन्न विमर्श के अलावा कुछ नहीं था। समुदाय और खण्डों को सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ से काटकर महिमा-मण्डित किया गया।

1993 में पार्थ चटर्जी की पुस्तक 'दि नेशन एण्ड इट्स फ्रैगमेंट्स: कोलोनियल एण्ड पोस्ट-कोलोनियल स्टडीज़' के साथ ही सबऑल्टर्न स्टडीज़ अपने तार्किक निर्वाण को प्राप्त हो गया। चटर्जी राष्ट्र के खण्डों के रूप में दलितों, स्त्रियों, आदि की अलग-अलग चर्चा करते हैं। उनका कोई सामान्य एजेण्डा नहीं हो सकता और ये सभी खण्ड परकीकृत (रीइफाइड) हैं, जिन्हें कभी जोड़ा नहीं जा सकता है। चटर्जी के अनुसार राष्ट्रवादी काल में स्त्रियों की पहल या स्वायत्तता की अभिव्यक्ति सिर्फ पायी जा सकती है। या फिर ज़्यादा से ज़्यादा आत्मकथाओं में। चटर्जी उन तमाम गतिविधियों और राजनीतिक संघों के विषय में एकदम चुप हैं, जिनमें स्त्रियों ने 1920 के दशक में ज़ोर-शोर से भाग लिया था। फुले, पेरियार, या अम्बेडकर से जुड़े जातिगत आन्दोलनों के बारे में भी यह किताब चुप है। इस पुस्तक में चटर्जी एक नया युग पेश करते हैं—भौतिक/आत्मिक। 'भौतिक' वह है जो बाहर, अघरेलू, और पौरुषपूर्ण है और 'आत्मिक' वह है जो भीतर, घरेलू और स्त्रीण है। आत्मिक जगत में औपनिवेशिक 'सब्जेक्ट' अपनी स्वायत्तता कायम करता था, और भौतिक विश्व में अंग्रेजों द्वारा सहयोजित कर लिया जाता था; जैसे जब कानून के समक्ष समानता की बात आयी तो चटर्जी इसे पश्चिमी वर्चस्ववादी परियोजना द्वारा सहयोजित कर लिया जाना मानते हैं। साम्राज्यवाद का हर विरोध जो आधुनिक तरीके से किया गया, धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) तरीके से किया गया, आर्थिक आलोचना के साथ किया गया, वह दरअसल साम्राज्यवाद के वर्चस्वकारी प्रबोधन प्रोजेक्ट के सामने हथियार डालना था। यानी, जो भी लड़ाइयाँ राष्ट्रवाद ने लड़ीं, वे सभी साम्राज्यवाद द्वारा सहयोजन (को-ऑप्शन) था।

आधुनिकता के इस विरोध में **दीपेश चक्रवर्ती** ने पार्थ चटर्जी को भी पीछे छोड़ दिया है। 'दि डिफरेंस डेफरल ऑफ ए कोलोनियल मॉडर्निटी: पब्लिक डिबेट्स ऑन डोमेस्टिसिटी इन ब्रिटिश बंगाल' नामक अपने लेख में चक्रवर्ती ने कुल और गृहलक्ष्मी के घरेलू महिमा-मण्डन में "सुन्दरता" की अनअपचयनीय (इरिंड्यूसिबल) श्रेणियाँ तलाशीं हैं। चक्रवर्ती इन्हें स्वायत्त, गैर-बुर्जुआ और

गैर-धर्मनिरपेक्ष वैयक्तिकता के आदर्श के रूप में देखते हैं। यहाँ किसी को भी 'क्यों' सवाल पूछने की ज़रूरत नहीं है। पितृसत्तात्मक हुई तो क्या हुआ, ये सभी श्रेणियाँ प्रागाधुनिक तो हैं ही! चक्रवर्ती का मानना है कि प्राच्य घरेलूपन के क्षेत्र में ही स्त्री की शक्ति निहित है। यानी, स्त्रियों को हिन्दू धर्म और सभ्यता जिन कार्यों के लिए उपयुक्त मानती है, उसी में स्त्रियों को अपनी शक्ति के स्रोत तलाश कर सन्तोष करना चाहिए! यह स्त्रियों के प्रतिरोध का एक भद्दा किस्म का परवर्जन नहीं है तो और क्या है?

समुदायों की स्वायत्तता की बात को सबऑल्टर्न इतिहासकार आधुनिक राज्य द्वारा सामुदायिक मामलों में हस्तक्षेप के खात्मे के छोर तक ले जाते हैं। क्या यहाँ किसी को खाप पंचायतों द्वारा बर्बर तालिबानी फरमानों को बेरोक-टोक अंजाम दिये जाने की अनुगूँज सुनायी दी? इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। ये पूरा विमर्श ही कभी साम्प्रदायिक फासीवाद के पक्ष में तो कभी नवउदारवादी पूँजीवाद के खेमे में खड़ा नज़र आता है। प्राच्य मासूमियत के दायरे में वह सबकुछ आ जाता है जो भारतीय समाज में राज्य के हस्तक्षेप के बिना होता है। मिसाल के तौर पर, सती प्रथा, खाप पंचायतों की संस्कृति रक्षा, स्त्रियों का दमन, आदि। इसमें तो आधुनिक राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं है, और अक्सर जनता के ही कुछ हिस्से इस तरह की कार्रवाइयों को अपनी प्रशंसित प्रागाधुनिक और प्राच्य चेतना के तौर पर करते हैं। लेकिन उपरोक्त सबऑल्टर्न इतिहासकारों के लिए यह सब उचित है, वांछित है, क्योंकि ये सभी खण्डों में बैटी या संगठित प्राच्य मासूमियतों के कारनामे हैं।

अस्मितावादी राजनीति के दो रूप और जातिगत राजनीति और अस्मितावादी राजनीति का प्रतिच्छेदन

अस्मितावादी राजनीति इसी उत्तरआधुनिकतावादी विचारसरणि से अपना विचारधारात्मक ईंधन ग्रहण करती है। उत्तरआधुनिकतावाद जिन खण्डों की बात करता है, अस्मितावादी राजनीति उन्हें अस्मिताओं के धरातल पर लागू करती है। पूरा का पूरा एन.जी.ओ. सेक्टर भी इसी सोच से जाकर जुड़ता है। जनता के अलग-अलग हिस्सों को खण्डित अस्मिताओं में बाँटकर एन.जी.ओ. सेक्टर सुधारवाद के ज़रिये जनता के संघर्षों को दिग्भ्रमित और विखण्डित करने का खतरनाक काम अंजाम दे रहा है। यह वास्तव में खण्डों का जश्न मनाते हुए जनता की वर्ग चेतना को कुन्द करने की ही साजिश है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर एन.जी.ओ. सेक्टर 'सेफ्टी वॉल्व' मैकेनिज़्म के रूप में काम करता है और जब-तब जनता के आक्रोश और असन्तोष को नियन्त्रित करने की भूमिका

निभाता है। इनकी साजिश की गम्भीरता को हमें समझना होगा।

एक अन्य परिप्रेक्ष्य में भी अस्मितावादी राजनीति का प्रभाव देखने को मिलता है। पिछले कुछ वर्षों में फासीवादी बहुसंख्यावादी हिन्दुत्व राजनीति का उभार वास्तव में पहचान की ही राजनीति की एक अभिव्यक्ति है। इस तरह की कोई भी दक्षिणपन्थी कट्टरपन्थी राजनीति अस्मिता के एक स्थैतिक आदर्श पर कायम होती है और कल्पित अतीत के द्वारा मिथकों को यथार्थ और सामान्य बोध बना कर इस अस्मिता के लिए वैधीकरण हासिल करती है। अस्मितावादी राजनीति में इस तरह के सभी दक्षिणपन्थी विनियोजन अन्तर्निहित हैं। आज के दौर में न सिर्फ परिधिगत पहचानें, बल्कि उनसे भी अधिक “मेनस्ट्रीम” पहचानें अस्मितावादी राजनीति के औज़ार का इस्तेमाल अपने निहित स्वार्थों के लिए कर रही हैं। यह भी एक खतरनाक रुझान है।

अस्मितावादी राजनीति के ये दोनों ही रूप अपने आपको एक दूसरे के विरोधी और विकल्प के रूप में पेश करते हैं, लेकिन वास्तव में वे दो अलग विरोधी ताकतें हैं ही नहीं। वे बस अपने आपको इस रूप में पेश करती हैं। यानी, एन.जी.ओ. राजनीति और दक्षिणपन्थी धार्मिक कट्टरपन्थी और साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे अपने आपको एक दूसरे के विरोधी के तौर पर पेश ज़रूर करते हैं, लेकिन उनकी विचारधारा और दर्शन में एक बुनियादी एकता है। कह सकते हैं कि वे एक छद्म विकल्पों का युग्म पेश करते हैं। इसी को गाइल्स देल्यूज़ ने ‘डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस’ का नाम दिया था। विपरीतों का एक ऐसा समुच्चय जिसमें विपरीत के तौर पर पेश किये गये तत्त्व वास्तव में विपरीत नहीं हैं।

अस्मितावादी राजनीति के केन्द्रीय सैद्धान्तिक वैचारिक सूत्रों की पड़ताल और इसके दार्शनिक अन्तर्य को उजागर करने के बाद हम मोटे तौर पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने की सूरत में हैं कि जाति-आधारित राजनीति वर्तमान दौर में अस्मितावादी राजनीति का ही एक रूप है। जाति की पहचान पर आधारित राजनीति अपने दोनों ही अवतारों में—सवर्ण/उच्च जातियों की जातिगत राजनीति और दलितवादी राजनीति—अस्मितावादी राजनीति की ही अभिव्यक्ति हैं। इस रूप में इन्हें एक-दूसरे की ‘इन्वर्टेड मिरर इमेज’ भी कहा जा सकता है। यहाँ पर भी हम एक प्रकार के ‘डिस्जंक्टिव सिन्थेसिस’ को, एक प्रकार के छद्म विकल्पों के युग्म को देख सकते हैं, जो कि वास्तव में एक-दूसरे के विकल्प हैं ही नहीं। क्योंकि इन दोनों का ही आधार अपने-अपने तरीके से जातिगत अस्मिता के साथ राजनीति का ‘ओवर-आइडेण्टिफिकेशन’ है। यहाँ सवर्ण जातियों के विभिन्न संगठनों द्वारा अमल में लायी जा रही अस्मितावादी जातिगत राजनीति की चर्चा अनावश्यक है। उसके प्रतिक्रियावादी, बर्बर और अमानवीय चरित्र के बारे में

विकृतीकरण (डेसिफर) करने के लिए कुछ भी नहीं है। सार और रूप में जबर्दस्त एकता है।

लेकिन दलितवादी संगठनों द्वारा दलित अस्मिता के इर्द-गिर्द की जाने वाली राजनीति भी वास्तव में अस्मितावादी राजनीति के एजेण्डा को ही पूरा कर रही है, चाहे कुछ मामलों में इसके पीछे दलित मुक्ति की जेनरल चाहत और इरादे ही क्यों न हों। अस्मिता-आधारित किसी भी राजनीति या संगठन के पास सामाजिक मुक्ति की कोई परियोजना नहीं हो सकती है। जातिगत, जेण्डरगत, भाषाई या राष्ट्रगत अस्मिता के आधार पर कोई वास्तविक बुनियादी मुद्दा अर्थपूर्ण रूप में नहीं उठाया जा सकता है। इसलिए दलितवादी संगठनों द्वारा दलित अस्मितावादी राजनीति के ज़रिये अचेतन तौर पर ही सही, पूँजीवादी व्यवस्था की ही सेवा की जाती है। यही अस्मितावादी राजनीति का वर्ग चरित्र है जो यथास्थितिवादी और प्रतिक्रियावादी है। अपनी तमाम सदृच्छाओं के बावजूद ऐसे सभी दलितवादी संगठन दलित मुक्ति की वास्तविक कारगर परियोजना को अमल में नहीं ला पा रहे हैं और अस्मितावादी राजनीति की ज़मीन पर खड़े होकर वे कभी ऐसी कोई परियोजना बना भी नहीं सकते हैं। बेशक इन संगठनों में तमाम ऐसे लोग हैं जो ईमानदारी और जुझारूपन के साथ दलित मुक्ति की परियोजना के बारे में सोचते हैं और सक्रिय रहते हैं। लेकिन एक सही राजनीति की गैर-मौजूदगी में यह चिन्तन और सक्रियता अक्सर किसी दिशा में नहीं जाते, या अक्सर यथास्थिति का प्रतिनिधित्व करने वाली ताकतों की सेवा में लग जाते हैं। क्योंकि जब तक यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि जातिगत उत्पीड़न और इसके साथ ही शोषण-उत्पीड़न के अन्य सभी रूपों के लिए वास्तव में जिम्मेदार कौन है, और लड़ना किसके खिलाफ है, तब तक इनके विरुद्ध किया जाने वाला प्रतिरोध 'मिस्प्लेस्ड' होगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जब हम यहाँ दलितवादी संगठनों का जिक्र कर रहे हैं, तब हमारा मतलब बुर्जुआ राजनीति में लिप्त बसपा-सरीखी उन पूँजीवादी चुनावी पार्टियों से कतई नहीं है जो दलितों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं और उन्हें महज वोट बैंक के तौर पर इस्तेमाल करते हैं (हालाँकि कुछ वर्षों पहले तक कई वामपन्थी होने का दावा करने वाले बुद्धिजीवी भी मायावती के सत्ता में पहुँचने को लेकर हर्षित-प्रफुल्लित थे, कि अब दलितों के कदमों की धमक सत्ता के गलियारों में सुनाई दे रही है। गनीमत है कि मायावती के शासन के दौरान दलितों पर हुए अत्याचारों के सारे रिकॉर्ड ध्वस्त होने के साथ इस तरह का मूर्खतापूर्ण शोर अब शान्त हो गया है!)। इन अर्थों में बहुजन समाज पार्टी की बात जितनी कम की जाय उतना बेहतर है। बुर्जुआ चुनावी अवसरवादिता के कई नये कीर्तिमान मायावती के नेतृत्व में बसपा ने स्थापित किये हैं। सत्ता-सुख भोगने के लिए इसने

सवर्णवादी फासीवादी हिन्दू दक्षिणपन्थी ताक़तों से चुनावी गठजोड़ बनाने से भी परहेज़ नहीं किया। मायावती की 'सोशल इंजीनियरिंग' का नतीजा उत्तर प्रदेश में और किसी को नहीं बल्कि ग़रीब दलित आबादी को ही झेलना पड़ा है। चुनावी अस्मितावादी दलित राजनीति करने वालों में मायावती की स्थिति कोई अद्वितीय या अनोखी नहीं है। रामदास आठवले, तमिलनाडु में दलित पैन्थर्स के नेता थोर थिरुमावलवन, रामविलास पासवान जैसेों की स्थिति भी कोई भिन्न नहीं है। कभी वे भाजपा तो कभी कांग्रेस की गोद में बैठे नज़र आते हैं।

न सिर्फ़ इन चुनावी दलितवादी राजनीतिक दलों (जो कि इरादतन भी बेईमान हैं और पूर्णतः पूँजीवाद की सेवा में लिप्त हैं) बल्कि गैर-चुनावी अस्मितावादी दलितवादी संगठनों (जिनमें से कई ईमानदारी से दलित मुक्ति के एजेण्डे को उठाते हैं) की राजनीति के खोखलेपन की मिसाल सिर्फ़ एक घटना से दी जा सकती है, जिससे पता चलता है कि उनकी राजनीति में खोखले प्रतीकवाद के अलावा कुछ नहीं बचा है। हाल ही में राष्ट्रीय स्तर पर दो घटनाएँ घटीं जो कि आम ग़रीब दलित आबादी के लिए वास्तविक और प्रतीकात्मक महत्व रखती थीं। एक घटना थी बथानी टोला में दलितों के नरसंहार के आरोपी धनिक सवर्णों को अदालत द्वारा दोषमुक्त करार दिया जाना और दूसरी घटना थी एन.सी.ई.आर.टी. की योगेन्द्र यादव व सुहास पल्सीकर द्वारा तैयार पुस्तक में नेहरू और अम्बेडकर के एक कार्टून को रखना। ये दोनों घटनाएँ कुछ दिनों के ही अन्तर पर हुईं। लेकिन बथानी टोला नरसंहार के आरोपियों के छूटने पर कई दलित संगठन एक बयान तक देना भूल गये, जबकि कार्टून विवाद पर उन्होंने जमकर हल्ला मचाया। कुछ लोगों ने तो सुहास पल्सीकर के कार्यालय पर हमला तक किया। यह एक अलग चर्चा का विषय है कि अम्बेडकर और नेहरू के उस कार्टून में क्या सही और क्या ग़लत था; यह भी एक विस्तृत चर्चा का विषय हो सकता है कि अम्बेडकर की आलोचना की जा सकती है, या उन्हें आलोचनेतर घोषित कर दिया जाना चाहिए, ताकि "राष्ट्र" के "सवर्ण अपराधबोध" को समाप्त किया जा सके; इस पर भी चर्चा हो सकती है कि सुहास पल्सीकर के कार्यालय में जो किया गया और हिन्दुत्ववादी हुसैन की पेण्टिंग प्रदर्शनियों के साथ जो करते थे, या उन्होंने भण्डारकर शोध संस्थान में जो किया था, उसमें कोई गुणात्मक फर्क है या नहीं; और अन्त में इस बात पर भी चर्चा हो सकती है, कि तरह-तरह के बुतों से भरे इस देश में और नये बुतों की ज़रूरत है या नहीं। लेकिन अभी हम इन चर्चाओं में नहीं जायेंगे और सिर्फ़ इशारों में इतना कहना चाहेंगे, कि बथानी टोला के हत्यारों को बरी किये जाने पर दलितवादी संगठनों द्वारा वह शोर नहीं मचाया गया, जो कि अम्बेडकर और नेहरू के कार्टून पर मचाया गया। क्या यह समूची अस्मितावादी दलितवादी

राजनीति के खोखले प्रतीकवाद को नहीं दर्शाता है?

सभी पूँजीवादी राजनीतिक ताकतों के समान ही चुनावी दलितवादी अस्मितावादी राजनीति करने वाली पार्टियाँ उन्हीं वर्ग सम्बन्धों की हिफाजत करते हैं जो जातिगत उत्पीड़न की स्थितियाँ तैयार करते हैं। और सभी जाति-आधारित पार्टियाँ वर्ग एकजुटता बनने से रोकती हैं और जातिगत विभाजक रेखाओं को मजबूत करने का ही काम करती हैं। और गैरचुनावी दलितवादी राजनीति भी वस्तुगत तौर पर यही काम करती है। किसी भी संगठन के राजनीतिक चरित्र का फैसला इस बात से नहीं होता, उसके सदस्यों का सामाजिक-आर्थिक मूल क्या है। मसलन, कोई भी दलित संगठन इसलिए दलितों की मुक्ति की सही राजनीति का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता है, कि उसके सदस्यों की बहुसंख्या दलित है। इसी ज़मीन पर खड़े होकर कई दलित चिन्तक अक्सर यह पूछते हैं कि फलों पार्टी के नेतृत्व में कितने दलित हैं। मिसाल के तौर पर कई बार यह सवाल दलित चिन्तकों द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों से पूछा जाता है कि आपकी केन्द्रीय कमेटी में कितने दलित हैं। लेकिन क्या बिल्कुल इसी तर्क से आज मौजूद तमाम दलित संगठनों से क्या कोई यह सवाल नहीं पूछ सकता है कि उनके नेतृत्वकारी निकाय में कितने मजदूर हैं? हमारा मानना है कि ये दोनों सवाल ही ग़लत हैं, और अस्मितावादी सोच की ज़मीन पर खड़े होकर उठाये गये हैं। हम किसी भी संगठन की राजनीतिक विचारधारा का फैसला उसके नेतृत्व में मौजूद लोगों के परिवार और जन्म से कर सकते हैं – क्या यह भी एक प्रकार का ब्राह्मणवादी तर्क नहीं बन जाता है? राजनीतिक विचारधारा के चरित्र का फैसला इस बात से होता है कि वह विचारधारा किस वर्ग की सेवा कर रही है, इस बात से नहीं कि उसके वाहक किस परिवार में पैदा हुए। अस्मितावादी राजनीति का तर्क एक चक्रीय तर्क है, जो थोड़ी ही देर में आपको वहीं पर ला कर छोड़ देता है, जहाँ से आपने शुरुआत की थी। यह एक प्रकार से अपने भीतर ही अपने पराजय का तर्क छिपाये होता है। सवर्णवाद पर चोट का सही तरीका जाति विभेद को ही हमेशा के लिए मिटाकर होना चाहिए। सवर्णवाद पर चोट के लिए दलित पहचान पर अस्मितावादी राजनीति के तर्क से जोर देना इस उद्देश्य में किस प्रकार सहायता कर सकता है? स्पष्ट है कि सवर्णों के जातिवाद का मुकाबला किसी भी सूरत में अस्मितावादी दलित राजनीति की ज़मीन पर खड़ा होकर नहीं किया जा सकता है।

तो ऐसे में किया क्या जाना चाहिए? हम एक बार फिर कहेंगे कि जो पहचान/अस्मिता व्यापकतम सम्भव जनगोलबन्दी कर सकती हो, उसके इर्द-गिर्द ही व्यापक ग़रीब आबादी को गोलबन्द करना होगा और ऐसी पहचान एक ही है—वर्ग अस्मिता, जो कि शुद्ध अर्थों में पहचान है भी नहीं। वर्ग की अवधारणा

एक सामाजिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती है। लेनिन के अनुसार, “वर्ग लोगों के बड़े-बड़े समूहों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से, और (अधिकांश मामलों में, कानूनों में निश्चित और प्रतिपादित) श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के अपने भाग की प्राप्ति की विधि तथा आकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्ग लोगों के वे समूह हैं, जिनमें से एक समूह सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित पद्धति में अपने स्थान की बदौलत दूसरे समूह के श्रम को हथिया सकता है।” वर्ग एक सापेक्षिक अवधारणा है, जैसा कि इस परिभाषा से स्पष्ट है। वर्ग सिर्फ एक आर्थिक परिघटना नहीं है, बल्कि संस्कृति, साहित्य, समाज में इसकी अनेक रूपों में अभिव्यक्ति होती है। मार्क्सवाद पर वर्ग अपचयनवाद (क्लास रिडक्शनिज़्म) और आर्थिक नियतत्ववाद (इकोनॉमिक डिटरमिनिज़्म) का आरोप तथ्यों के साथ बदसलूकी है। एंगेल्स ने एक जगह स्पष्ट किया है, “इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार, इतिहास में अन्तिम मौके पर जो चीज़ निर्णायक होती है, वह है वास्तविक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन। इससे ज़्यादा न तो मार्क्स ने कहीं कहा है और न ही मैंने। लेकिन कोई जब इसको विकृत करके ऐसे पढ़ता है कि आर्थिक कारक ही एकमात्र तत्व है, तो वह इस कथन को एक अर्थहीन, अमूर्त, अनर्गल जुमले में तब्दील कर देता है। आर्थिक स्थिति आधार है, लेकिन उनके परिणामों के विभिन्न तत्व, संविधान-कानूनी रूप, और साथ ही भागीदारों के दिमागों में इन सभी प्रतिक्रियाओं के बीच वास्तविक संघर्ष, राजनीतिक, कानूनी, दार्शनिक, धार्मिक विचार-ये सभी ऐतिहासिक संघर्षों के विकास पर प्रभाव डालते हैं, और कुछ मौकों पर उनके रूपों को निर्धारित भी करते हैं।”

वर्ग “अस्मिता” एक आधुनिक “पहचान” है, जो सभी आदिम पहचानों को आन्तरिक तौर पर विभाजित करती है। यह वर्ग अस्मिता ही एक प्रगतिशील क्रान्तिकारी जनगोलबन्दी को जन्म दे सकती है। इस मायने में वर्ग अस्मिता एक ‘ओवरराइडिंग’ पहचान है, जो अन्य सभी अस्मिताओं को विभक्त करते हुए अस्तित्वमान है। चाहे कोई भी राष्ट्र हो, कोई भी जाति हो, कोई भी भाषा हो, कोई भी क्षेत्र हो, इसके लोग वर्गों में विभाजित हैं, और उनके बीच एक तीखा ध्रुवीकरण हो चुका है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि वर्ग अस्मिता को उभारने का अर्थ अन्य अस्मिताओं की विशिष्टताओं को कुचल देना या नष्ट कर देना नहीं है। वर्ग अस्मिता को सुदृढ़ीकृत करने का अर्थ वर्ग चेतना को उन्नत करना है और इसका मकसद वर्ग अस्मिता के इर्द-गिर्द व्यापक जनगोलबन्दी करना है चाहे, जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, राष्ट्रीयता आदि कुछ भी हो। व्यापक

जनमुक्ति की परियोजना का रास्ता भी यही हो सकता है। जातिगत, राष्ट्रीय, जेण्डरगत दमन करने वाली ताकतों की जैसे ही हम पहचान करते हैं, वैसे ही हम पाते हैं कि दलित मुक्ति प्राप्त करने, राष्ट्रीय दमन को खत्म करने, स्त्री उत्पीड़न और असमानता को खत्म करने की परियोजना में हमारा मुश्तरका दुश्मन पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग ही हैं। समूचे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में आमूलगामी परिवर्तन, हर प्रकार की असमानता के खात्मे और एक समानतामूलक समाज की स्थापना की परियोजना के मुकाम पर पहुँचाने के साथ ही जाति का खात्मा हो सकता है। निश्चित तौर पर इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसी क्रान्ति और ऐसे समाज की रचना तक जातिवाद और जातिगत मानसिकता के खिलाफ संघर्ष को स्थगित करने का कोई प्रस्ताव हम रख रहे हैं। हम अच्छी तरह से जानते हैं जातिगत मानसिकता और जातिवाद के खिलाफ निरन्तर प्रचार के बिना सर्वहारा वर्ग को भी एक वर्ग के तौर पर एकजुट नहीं किया जा सकता है। वास्तव में, वर्ग चेतना को पैदा करने का कार्य अनिवार्य और अपरिहार्य रूप से आज से ही, पूरी ताकत के साथ जाति और जातिवाद के खिलाफ संघर्ष से जुड़ा हुआ है। इसके बिना किसी भी रूप में सर्वहारा वर्ग पूँजीवाद के खिलाफ एक वर्ग के रूप में जागृत, गोलबन्द और संगठित नहीं हो सकता है। लेकिन जाति के इस महत्वपूर्ण सवाल को एक अलग खण्ड के रूप में परकीकृत करके हल करने के सभी प्रयास अस्मितावादी राजनीति की ओर ले जायेंगे, और देश के उन मेहनतकशों को टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त करने में किसी भी रूप में पूँजीवादी सवर्णवादी विचारधारा से कम भूमिका नहीं निभायेंगे। इसलिए जाति प्रश्न के समाधान के लिए एक क्रान्तिकारी वर्ग दृष्टिकोण की ज़रूरत है, न कि खण्डों का जश्न मनाने वाली अस्मितावादी राजनीति की।